2929

पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला : १०१

प्रधान सम्पादक
प्रो०सागरमल जैन

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन

(मूल, संस्कृत छाया व हिन्दी अनु० सहित)

लेखन, अनुवाद एवं सम्पादन

डॉ० अशोक कुमार सिंह

वरिष्ठ प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी-५

प्रकाशकीय

सम्पादन, अनुवाद, प्रकाशन की दृष्टि से जैन आगम ग्रन्थों (प्रकीर्णकों को छोड़कर) पर बहुत अधिक कार्य हुआ है। आज आगमग्रन्थों के बहुत से प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं। गुजराती या हिन्दी, अनुवाद के साथ विवरणात्मक टिप्पणी आदि देकर एक-एक आगम ग्रन्थ के अनेक संस्करण मिलते है। कुछ आगम ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हुए हैं। परन्तु आगमों के प्राचीन व्याख्या साहित्य— निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, तथा वृत्ति के अनुवाद की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। कुछ अपवादों को छोड़कर इस दिशा में नहीं के बराबर कार्य हुआ है। आगमिक व्याख्या साहित्य में प्रतिपादित तथ्यों की सुलभता के लिए इनका अनुवाद सहित प्रकाशन बहुत जरुरी है।

जैन विद्या के अध्ययन शोध एवं प्रकाशन के क्षेत्र में पिछले ६० वर्षों से कार्यरत का०हि०वि०वि० द्वारा शोध हेतु मान्यता प्राप्त पार्श्वनाथ विद्यापीठ ने प्राकृत एवं संस्कृत के जैन ग्रन्थों का हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन आरम्भ किया है। फलस्वरूप वज्जालग्गम्, गाथासप्तशती, पञ्चाशकप्रकरणम् आदि प्राकृत ग्रन्थों एवं जैनमेघदूतम्, नेमिदूतम्, नलविलासनाटकम्, निर्भयभीमव्यायोगम् आदि संस्कृत ग्रन्थ हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित हुए।

इसी क्रम में छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध पर निर्युक्तिकार भद्रबाहु द्वारा निबद्ध दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति का हिन्दी अनुवाद (अध्ययन सहित) प्रस्तुत है। विद्यापीठ की समस्त गतिविधियों के केन्द्र एवं प्रेरणास्रोत निदेशक प्रो०सागरमल जैन है, अत: हम उनके आभारी है। इस ग्रन्थ का अनुवाद, सम्पादन एवं प्रूफ-संशोधन विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ०अशोक कुमार सिंह ने किया इसलिए हम उन्हें साधुवाद देते हैं।

प्रकाशन व्यवस्था के लिए विद्यापीठ के प्रवक्ता डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय भी धन्यवाद के पात्र हैं।

उत्कृष्ट कम्पोजिंग के लिए श्री अजय कुमार चौहान, सरिता कम्प्यूटर्स एवं सुरुचिपूर्ण मुद्रण के लिए रत्ना प्रिण्टिंग वर्क्स, वाराणसी के भी हम आभारी है।

भूपेन्द्रनाथ जैन
मानद सचिव
पार्श्वनाथ विद्यापीठ
वाराणसी

			९	९		
१७.			११	८	"	देही
			१०	७		
१८.	४८		१२	६	"	"
			९	९		
१९.	५२		१३	६	६०	उद्गाथा
			८	१२		
२०.	५३		१०	१०	५७	चूर्णा
			८	११		
२१.	५६		१०	१०	"	देही
			११	५		
२२.	६१		१२	६	"	विद्या
			११	५		
२३.	६२		१३	४	"	देही
			८	११		
२४.		६७	१०	१०	"	धात्री
			९	९		
२५.	७२		११	८	"	क्षमा
			११	५		
२६.	७७		१२	६	"	विद्या
			११	५		
२७.	८७		९	१२	"	छाया
			८	११		
२८.	८८		१०	१०	"	देही
			११	५		
२९.	९१		११	८	"	गौरी
			९	९		
३०.	९३		९	१२	"	कान्ति
			७	१३		

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

विषयानुक्रमणिका

क्रम संख्या			पृ.सं.
प्राक्कथन	:		i-ix
		✍ डॉ० अशोक कुमार सिंह	
भूमिका	:	निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन ✍ प्रोफेसर सागरमल जैन	१-३४
प्रथम अध्याय	:	छेदसूत्र और दशाश्रुतस्कन्ध आगम ग्रन्थ ३५, आगम प्रणयन ३६, छेद-शब्द-व्युत्पत्ति ३९, उत्तमता ३९, नामकरण ३९, छेदसूत्र संख्या ४०, सामान्य विषय-वस्तु ४१, दशाश्रुत स्कन्ध : परिचय – कालिक ग्रन्थ ४१, रचना-प्रकृति ४२, रचनाकाल ४२, विच्छेद ४२, स्रोत ४३, विषय-वस्तु ४३, विषय-वस्तु महत्त्व ५१, दशाओं का पौर्वापर्य एवं सामञ्जस्य ५२, व्याख्या साहित्य ५३, प्रकाशन ५४, कल्पसूत्र – व्याख्या साहित्य ५५, प्रकाशन ५६।	३५-६०
द्वितीय अध्याय	:	निर्युक्ति-संरचना और दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति निर्युक्ति-संरचना ६१, निक्षेप सिद्धान्त और निर्युक्ति साहित्य ६२, दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति संरचना ६८, प्रतिपाद्य ६८।	६१-७९
तृतीय अध्याय	:	छन्द-दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति : पाठ निर्धारण समान्तर गाथायें ९९।	८०-११८
चतुर्थ अध्याय	:	दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में इङ्गित दृष्टान्त १. अधिकरण सम्बन्धी द्विरुक्तक दृष्टान्त १२०, २. चम्पाकुमार नन्दी या अनङ्गसेन दृष्टान्त १२२, ३. भृत्य द्रमक वृत्तान्त १३८, ४. क्रोध कषाय विषयक मरुक दृष्टान्त १४०, ५. मानकषाय	११९-१४८

विषयक अत्यहङ्कारिणी भट्टादृष्टान्त १४१.
६. माया कषाय विषयक पाण्डुरार्या दृष्टान्त १४४.
७. लोभ कषाय विषयक आर्यमङ्कु दृष्टान्त १४६।

उपसंहार : १४९-१५२
प्राकृतमूल-संस्कृत छाया-हिन्दी अनुवाद १५३-१९१
गाथानुक्रमणिका : १९२-१९६
शब्दानुक्रमणिका : १९७-२०९
सन्दर्भग्रन्थसूची : २१०-२१४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

साध्वी समणी कुसुमप्रज्ञा, (लांडनूँ) ने इस निर्युक्ति का सम्पादन किया है परन्तु अभी वह प्रकाशित नहीं है। **व्यवहारभाष्य** (लाडनूँ १९९६) में प्राप्त प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची से सूचना मिलती है कि उन्होंने **दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराङ्ग** और **सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति** भी सम्पादित किया है परन्तु इनका प्रकाशन नहीं हुआ है।

निर्युक्ति साहित्य पर अद्यावधि किये गये कुछ प्रमुख कार्यों, शोधलेखों और निबन्धों का विवरण इस प्रकार है— प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् Ernst Leuman की कृति *Daśvaikālika Sūtra und niryukti auf ihren erzahlungsge halt untersucht und herausgegeben,* Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft 46, 1892, *Ueber die Āvaśyaka Literature'*Leide 1895, *Die Āvaśyaka - Erzählungen"* Leipzig 1897, युवा जैन विदुषी सुश्री नलिनी बलवीर का *Āvaśyaka Studien:* Bd 1, Stuttgart 1993, जर्मन विद्वान् B. Bolee का दो भागों में क्रमशः १९७७ और १९८८ में *Studien Zum Suyagad,* Wiesbaden तथा *'Materials for an edition and study of the Pinda and Ogha Nijjutties of the Svetambara tradition'* Stuttgart दो भागों में १९९१ और १९९४ उपलब्ध होते है।

निर्युक्ति पर प्राप्त लेखों में ए०एम० घाटगे के अंग्रेजी में प्रकाशित दो लेख क्रमशः **दशवैकालिकनिर्युक्ति** और **सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति** पर 'इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली के ग्यारहवें (१९३५) और बारहवें (१९३६) खण्ड में, मुनि पुण्यविजय जी का **'छेदसूत्रकार अने निर्युक्तिकार'**, महावीर जैन विद्यालय रजत महोत्सव स्मारक ग्रन्थ, बम्बई, १९४१, B.Bolee का *Khuddaga - Niyantijjam : 'an epitome of the Jaina doctrine'* (*Uttarajjhaya,* 6), Journal of the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1971, Ludwig Alsdorf का *'Jaina Exegetical Literature and the History of Jaina canon,* Dr. A.N. Upadhye, Vol. 1977. आचार्य देवेन्द्र मुनि, **जैनागम व्याख्या साहित्य,** जिनवाणी, वर्ष ३५, अङ्क १९७८, अगरचन्द नाहटा, **निर्युक्तियों के रचनाकाल पर पुनर्विचार आवश्यक,** अमरभारती, वर्ष १६, अङ्क ४, १९७९, आदि उल्लेखनीय है। पार्श्वनाथ विद्यापीठ से प्रकाशित बी०के०खडबडी, *Reflections on the Jaina exegetical literature,* Aspects of Jainology, Vol. 3, 1991. और डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, **निर्युक्ति साहित्य : एक परिचय,** ऐस्पेक्ट्स ऑव जैनालाजी खण्ड ५, १९९५, और प्रो० सागरमल जैन, **निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन,** इन्द्रदिन्नसूरि अभिनन्दन ग्रन्थ, विजयानन्दसूरि साहित्य प्रकाशन फाउण्डेशन, पावागढ़, १९९६, भी उल्लिखित किये जा सकते है।

प्राक्कथन

प्राचीन मूल ग्रन्थों की सुस्पष्टता हेतु व्याख्या साहित्य की रचना भारतीय मनीषियों की प्राचीन परम्परा रही है। ग्रन्थ में प्रतिपादित गूढ़ शब्दों के सम्यक् अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ग्रन्थ की प्रामाणिक व्याख्याओं का अध्ययन बहुत उपयोगी ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है। जैन परम्परा के अर्धमागधी आगम साहित्य पर रची गई व्याख्याओं— विशेषत: प्राकृत भाषा में निबद्ध निर्युक्ति, भाष्य आदि साहित्य का अध्ययन, आगमों में निहित गूढार्थ को समझने के लिए आवश्यक है। इनको सुगम बनाने के लिए इनके अनुवाद और समीक्षात्मक अध्ययन की जरूरत है।

जैनागमों का सम्पादन, अनुवाद एवं अध्ययन भारतीय और विदेशी दोनों विद्वानों द्वारा पर्याप्त संख्या में प्रकाश में आया है। आगम के अङ्ग, उपाङ्ग, मूलसूत्र छेदसूत्र और चूलिकासूत्र के अनेक संस्करण उपलब्ध है। निर्युक्तियों, भाष्यों, चूर्णियों तथा टीकाओं के अपने-अपने मूल ग्रन्थों के साथ तथा कुछ स्वतन्त्र संस्करण भी मिलते हैं। परन्तु आगमिक व्याख्याओं के अनुवाद का नगण्य प्रयास हुआ है। किसी निर्युक्ति का हिन्दी अनुवाद अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

आगमिक व्याख्या साहित्य-निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि की उपेक्षा की ओर सङ्केत करते हुए स्व०बी०के०खडबडी ने सटीक टिप्पणी की है कि— 'The state of knowledge of the other three classes was so poor that even scholar like Jacobi at times confounded Bhāṣya and Cūrṇi, and Jarl Charpentier rather conjectured the cūrṇi as mertical.The Niryukti, the first type of exegetical literature being long ago ignored by the later Sanskrit Commentators (Ṭīkākāra) by dropping them from their works, likewise had received scant attention in our days (*Aspects of Jainology*, Vol.III. P.V., p. 27).

इसीलिए निर्युक्ति साहित्य के अनुवाद का कार्य आरम्भ किया। इस क्रम मे छेदसूत्र **दशाश्रुतस्कन्ध** पर भद्रबाहु द्वारा निबद्ध **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** का हिन्दी अनुवाद, संस्कृत छाया एवं अध्ययन के साथ प्रथम प्रयास के रूप में प्रस्तुत है। सामान्य रूप से निर्युक्ति और विशेष रूप से **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** पर किये गये कार्यों का पूर्वावलोकन करने पर ज्ञात होता है कि इस निर्युक्ति पर स्वतन्त्र लेख भी नहीं प्राप्त होते हैं। इसके दो प्रकाशित संस्करण अवश्य मिलते हैं। आदरणीया

निर्युक्ति साहित्य पर पूर्व में किये गये कार्यों का विवरण देने के पश्चात् निर्युक्ति-संख्या, रचना-काल, रचना-क्रम और कर्ता पर विचार आवश्यक है। प्रोफेसर सागरमल जैन द्वारा लिखित शोधलेख **'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन'** इस कृति की भूमिका के रूप में दिया गया है जिसमें उन्होंने उक्त सभी बिन्दुओं पर गम्भीरता से विचार किया है। इस क्रम में उन्होंने विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विचारों और मन्तव्यों की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए अपनी मान्यता स्थापित की है। अतः इस सम्बन्ध में चर्चा की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है।

अतः निर्युक्तियों के परिचय के सन्दर्भ में निर्युक्ति शब्द के व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ, निर्युक्तिसंरचना-स्वरूप पर जैन ग्रन्थों, शब्दकोशों एवं जैन विद्या के मनीषियों के विवरण की समीक्षा प्रस्तुत है —

'शब्दरत्नमहोदधि' (गुजराती जैन शब्दकोश) में निर्युक्ति शब्द की व्युत्पत्ति निर्+युज्+क्तिन् पूर्वक बतायी गई है। वहां इसका अर्थ अयोग्यपना, भिन्नता और भेद प्राप्त होता है (पृ० १२११)। **'पाइअसद्दमहण्णवो'** में निर्युक्ति शब्द का अर्थ व्याख्या, विवरण और टीका उल्लिखित है (पृ० ३९६)। **अर्धमागधी डिक्शनरी** में इस शब्द के दो अर्थ प्राप्त होते हैं— (१) सूत्र के अर्थ की विशेष रूप से युक्ति लगाकर घटना करना और (२) सूत्र के अर्थ को युक्ति दर्शाने वाला वाक्य अथवा ग्रन्थ। कोश ग्रन्थ **जैन लक्षणावली** में भी **आवश्यकनिर्युक्ति** और **मूलाचार** के आधार पर निर्युक्ति शब्द के दो व्युत्पत्त्यात्मक अर्थ सङ्कलित किये गये हैं— (१) 'नि' का अर्थ निश्चय या अधिकता है तथा 'युक्त' का अर्थ सम्बद्ध है। तदनुसार जो जीवाजीवादि तत्त्वसूत्र में निश्चय से या अधिकता से प्रथम ही सम्बद्ध हैं, उन निर्युक्त तत्त्वों की जिसके द्वारा व्याख्या की जाती है उसे निर्युक्ति कहा जाता है। (२) निर्युक्ति में 'नि' का अर्थ निरवय या सम्पूर्ण तथा 'युक्त' का अर्थ सम्बद्ध है। तदनुसार अभीष्ट तत्त्व के उपाय को निर्युक्ति जानना चाहिए। आगमटीकाकार मलयगिरि ने इसका अर्थ 'सूत्रों की व्याख्या' किया है (भाग २, पृ० ६२३)।

निर्युक्ति की इन व्याख्याओं से असहमत डॉ०वेबर ने सुझाव दिया कि 'निज्जुत्ति' को निरुक्ति का बिगड़ा हुआ रूप मानना चाहिए, जिसका संस्कृत रूप निरुक्ति होगा, जो वैदिक वाङ्मय में प्रसिद्ध है। लेकिन ए०एम०घाटगे ने इस सुझाव को पूर्णतया अस्वीकार कर दिया है। आपका अभिमत है कि निज्जुत्ति से निरुक्ति के संक्रमण की व्याख्या नहीं की जा सकती है तथा यह सुझाव है कि निर्युक्तिकार निरुक्त और निर्युक्ति को पूर्णतया पृथक् रखना चाहते थे। **दशवैकालिकनिर्युक्ति** में निरुक्त और निर्युक्ति दोनों शब्दों का उल्लेख मिलता है। इसमें निरुक्त, निर्युक्ति का एक अंश बताया गया है। (**इ०हि०क्वार्टरली**, खण्ड ११, पृ० ६२८)

निर्युक्ति की एक व्युत्पत्ति शार्पेण्टियर ने भी सुझायी है उनके अनुसार वर्तमान निर्युक्ति साहित्य आगमों की प्रथम व्याख्या नहीं है, बल्कि गद्य में प्रणीत विशालकाय आगमिक व्याख्याओं से गाथा अंश के रूप में उद्धृत है। उनकी विषय-वस्तु को संक्षिप्त करते हुए तथा उन गद्य-निबद्ध आगमिक व्याख्याओं के आधार पर ग्रन्थों का वाचन कराने वाले उपाध्यायों की स्मृति में सहायक थे। इस के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मौलिक वृत्तियों से निर्युहित होने के कारण इन्हें निज्जुत्ति कहा जा सकता है। परन्तु यह व्याख्या भी सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि उक्त गद्यात्मक व्याख्या ग्रन्थों का अस्तित्व प्रमाणित नहीं किया जा सकता। (**ई०हि०क्वार्टरली,** खण्ड ११, पृ० ६२८)

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निर्युक्ति शब्द की सर्वसम्मत व्याख्या अभी तक प्रस्तुत नहीं की जा सकी है। परन्तु इतना निश्चित है कि निर्युक्ति विशुद्ध रूप से जैनों की अपनी विशिष्टता रही है और व्याख्या पद्धति के क्षेत्र में जैनों का विशिष्ट अवदान है। एल०अल्सडोर्फ का अभिमत अत्यन्त प्रासङ्गिक है— no doubt the exclusive invention of the Jaina scholars and their most original contribution to scholastic research" (*Aspects of Jainology* 3, p. 28).

जहाँ तक निर्युक्ति के अवयवों या घटकों का प्रश्न है इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवयव निक्षेप रहा है। निक्षेप सिद्धान्त के द्वारा विवेच्य शब्दों का अर्थ निर्धारण इसका मुख्य प्रयोजन रहा है। स्वयं निर्युक्तिकार ने इस प्रयोजन को स्पष्ट उल्लिखित किया है— एक शब्द के कई अर्थ होते हैं, उनमें से कौन सा अर्थ किस प्रसङ्ग में उपयुक्त है। भगवान् महावीर के उपदेशकाल में किस शब्द से कौन सा अर्थ सम्बद्ध रहा है, आदि बातों को दृष्टि में रखकर, सम्यक् अर्थ-निर्णय तथा मूलसूत्र के शब्दों के साथ सम्बद्ध स्थापित करना निर्युक्ति का उद्देश्य है। (**आ०नि०,** ८८)

मूल ग्रन्थ के शीर्षक, इसके अध्ययनों के शीर्षक तथा कुछ अन्य विशिष्ट शब्दों की निक्षेप पद्धति द्वारा व्याख्या की गई है। निर्युक्ति में विवेचन के इस स्वरूप को अल्सडोर्फ ने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है— Niksepa is applied first to the title of the canonical work to be explained, if this title is a compound one, to each of its constitutents, subsequently to the titles of each chapter and sub sections, lastly, perhaps to a few key words of the sutra text : (*Journal, Baroda*, XXII, 1973.)

निर्युक्तियों में निक्षेप के अलावा कुछ विशिष्ट शब्दों का एकार्थ तथा निरुक्त— व्युत्पत्तिपरक अर्थ भी बताया गया है। निर्युक्ति में दृष्टान्त कथाओं की सूची भी दी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गई है। इन चारों के अतिरिक्त कहीं-कहीं चुने विषयों का प्रतिपादन भी किया गया है। निर्युक्ति साहित्य के वर्ण्य-विषय के सन्दर्भ में **दशवैकालिकनिर्युक्ति** के प्रतिपाद्य के सन्दर्भ में दिया गया घाटगे का अभिमत अन्य निर्युक्तियों के विषय में भी काफी हद तक प्रासङ्गिक है— Therein, it is stated that usually the topics discussed in a Niryukti are : Nikṣepa or application (2) Nirukt or etymology; (3) Ekartha or synonyms (4) Linga or Characteristics and Pancanvaya or Pagical discussion about the various objects chosen for the purpose of comment. This list can further be supplemented with other topics as the author of the work, the cause of its writing, the people wordhy of having it and the meaning of the sutras. (*I.H.Q.*, 11, p. 630).

इस प्रकार आगमों की व्याख्या पद्धति के रूप में प्राकृत गाथा में निबद्ध प्राचीनतम कृति निर्युक्ति जैनाचार्यों की भारतीय विद्या को विशिष्ट अवदान है।

जैन धर्म में आचार-शुद्धि पर अतिशय बल दिया गया है। छेदसूत्र श्रमणाचार के विधि-निषेध परक ग्रन्थों का प्रतिनिधित्व करते है। मुख्य रूप से इन छेदसूत्रों में श्रमणों की विविध आचार संहिताओं तथा अपवाद मार्गों का प्रतिपादन है। सामान्यत: आज इनकी संख्या छ: मानी जाती है। रचना की प्रकृति की दृष्टि से कुछ छेदसूत्र निर्यूहित आगम माने जाते हैं। निर्यूहित आगम वे ग्रन्थ हैं जिनके कर्ता ज्ञात हैं और जिस ग्रन्थ के आधार पर ये निर्मित हैं अर्थात् वे स्रोत भी ज्ञात हैं। छेदसूत्र **दशाश्रुतस्कन्ध** श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु (ई०पू०प्रथम शताब्दी) प्रणीत माना जाता है। इसे **दशा, आयारदसा** और **दशाश्रुत** नाम से जाना जाता है। यह नवम प्रत्याख्यान पूर्व से निर्यूहित है। इसका वर्गीकरण 'दसा' में किया गया है, जिनकी संख्या दस है।

मूलत: गद्य में निबद्ध इसका ग्रन्थ परिमाण १३८० ग्रन्थाग्र है, (जै०सा० बृ०इ०,भाग १, पृ० ३४) इसमें बीच-बीच में पञ्चम और नवम दशा में क्रमश: १७ और ३९ गाथायें भी मिलती हैं। (**नवसुत्ताणि,** लाडनूँ)।

जैन परम्परा यह मानती है कि वर्तमान **कल्पसूत्र** किसी समय इसकी आठवीं दशा रहा है। इसका ग्रन्थ-परिमाण १२५६ है। इसमें भी अधिकांश गद्य है। यत्र-तत्र प्राप्त गाथाओं की सं० २७ के आस-पास है।

इस **दशाश्रुतस्कन्ध** पर निबद्ध निर्युक्ति में १४१ गाथायें प्राप्त होती हैं (लाखाबावल संस्करण)। मूलग्रन्थ के दशा में वर्गीकरण से भिन्न निर्युक्ति का वर्गीकरण 'अध्ययन' शीर्षक में है। आज उपलब्ध निर्युक्तियों में यह लघुतम है।

आठवाँ पर्युषणाकल्प अध्ययन सबसे बड़ा (६७ गाथा) है जबकि पाँचवें चित्तसमाधि में मात्र एक गाथा है।

छेदसूत्र **दशाश्रुतस्कन्ध** और **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** आदि के विषय में कतिपय ज्ञातव्य तथ्यों का उल्लेख करने के पश्चात् प्रस्तुत कृति **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन** का परिचय प्रस्तुत है। इसमें दो भाग हैं— प्रथम भाग में चार अध्याय और उपसंहार है, दूसरे भाग में मूल प्राकृत गाथायें, उनकी संस्कृत छाया तथा हिन्दी अनुवाद है।

प्रथम अध्याय **'छेदसूत्रागम और दशाश्रुतस्कन्ध'** में जैन आगम ग्रन्थों की सूची, छेदसूत्र के रूप में आगम वर्गीकरण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, 'छेद' शब्द का व्युत्पत्तिपरक अर्थ, छेदसूत्र की उत्कृष्टता, छेदसूत्र नामकरण का कारण, उनकी संख्या और सामान्य रूप से छेदसूत्रों की विषय-वस्तु का प्रतिपादन किया गया है। साथ ही छेदसूत्र दशाश्रुत का परिचय देते हुए इसकी रचना-प्रकृति, रचनाकार, रचनाकाल, विच्छेद तथा प्रतिपाद्य के सम्बन्ध में परिचय देते हुए विषय-वस्तु के महत्त्व तथा दसों दशाओं के पौर्वापर्य और परस्पर सामञ्जस्य पर प्रकाश डाला गया है।

इस अध्याय में ही दशाश्रुतस्कन्ध पर प्रणीत व्याख्या साहित्य, इसके प्रकाशित संस्करण तथा अष्टम दशा 'पर्युषणाकल्प' अथवा **कल्पसूत्र** पर स्वतन्त्र रूप से प्रणीत व्याख्या साहित्य एवं स्वतन्त्र प्रकाशित संस्करणों का परिचय दिया गया है।

द्वितीय अध्याय **'निर्युक्ति संरचना और दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति'** में निर्युक्ति के चार प्रमुख घटकों— निक्षेप, एकार्थ, निरुक्त और दृष्टान्त के स्वरूप का उल्लेख करते हुए इसके प्रमुख घटक निक्षेप के भेद-प्रभेदों पर प्रकाश डाला गया है। श्वेताम्बर परम्परा के **अनुयोगद्वार** और दिगम्बर परम्परा के **षट्खण्डागम** में निक्षेप के भेद-प्रभेदों का सम्भवत: सर्वाधिक विस्तार से उल्लेख है। अत: इन दोनों ग्रन्थों को आधार बनाकर तुलनात्मक वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। घटकों की दृष्टि से **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** की संरचना पर प्रकाश डालने के पश्चात् इसके विषय-वस्तु का संक्षिप्त विवरण इसके अध्ययनों के क्रम से दिया गया है।

तृतीय अध्याय **'छन्द-दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : पाठ-निर्धारण'** में इसकी गाथा संख्या के सन्दर्भ में प्राप्त मतभेदों की समीक्षा की गयी है। आठवें पर्युषणाकल्प अध्ययन की ६७ गाथाओं के स्थान पर **निशीथसूत्रभाष्य** में 'इमा णिज्जुत्ती' कहकर उद्धृत इस अध्ययन की ७२ गाथाओं की प्राप्ति के सन्दर्भ में विवेचन किया गया है। पाठ-निर्धारण के क्रम में इस निर्युक्ति की गाथाओं का छन्द

की दृष्टि से अध्ययन किया गया है। जो गाथायें छन्द-दृष्टि से शुद्ध नहीं है उनमें अपेक्षित संशोधन सुझाये गये हैं। इन संशोधनों के लिए जैन वाङ्मय में अन्यत्र इस निर्युक्ति की जो समान्तर गाथायें प्राप्त होती है उनका सङ्ग्रह किया गया है। सम्बद्ध गाथाओं के पाठ-भेदों का तुलनात्मक विवेचन कर अपेक्षित पाठों का सुझाव दिया गया है।

चतुर्थ अध्याय **'दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में इङ्गित दृष्टान्त'** है। धर्मकथाओं का संक्षिप्त रूप— मात्र एक-दो गाथाओं में कथा के मुख्य बिन्दुओं तथा घटनाओं के सङ्केत ही निर्युक्ति में प्राप्त होते हैं। उसका पूर्ण स्वरूप परवर्ती चूर्णि साहित्य में उपलब्ध होता है। इस अध्याय में चूर्णियों— विशेषत: **निशीथसूत्रभाष्यचूर्णि** और **दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि** में प्राप्त कथा के मूल पाठ दिये गये है तथा चूर्णिपाठों के आधार पर हिन्दी में सारांश प्रस्तुत किया गया है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्युक्ति में अधिकरण अर्थात् पाप के दुष्परिणाम, क्षमा का माहात्म्य और चारों कषायों— क्रोध, मान, माया और लोभ के दुष्परिणामों को बताने वाली कथाओं को दृष्टान्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन कथाओं का मन्तव्य श्रमण-श्रमणी वर्ग और श्रावक-श्राविका वर्ग को अधिकरण, कषायादि से विरत रहने, क्षमा आदि धर्मों का पालन करने की प्रेरणा देना है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन के चारों अध्यायों का निष्कर्ष **उपसंहार** के रूप में प्रस्तुत है।

पुस्तक के अन्त में **गाथानुक्रमणिका, शब्दानुक्रमणिका** और **सन्दर्भग्रन्थ-सूची** दी गई है।

अपनी इस प्रथम पुस्तक प्रकाशन की बेला में मैं सर्वप्रथम अपनी माता स्वर्गीया शिवकुमारी देवी एवं पिता स्व० हरिद्वार सिंह को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ जिनकी पुण्यस्मृति हमारे लिए प्रतिक्षण प्रेरणादायिनी है।

तत्पश्चात् उन विद्वानों के प्रति सादर भाव से नतमस्तक हूँ जिन्होंने पूर्व में इससे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित विषयों पर ग्रन्थों तथा शोध लेखों के माध्यम से प्रकाश डाला है और जिनके अध्ययन और उपयोग का मुझे अवसर प्राप्त हुआ है।

जैन विद्या के शीर्षस्थ विद्वान् परमादरणीय पद्मभूषण पं० दलसुख भाई मालवणिया जी की यह प्रेरणा कि जैन अध्ययन को व्यापक बनाने के लिए 'प्राकृत एवं संस्कृत में निबद्ध जैन पाण्डुलिपियों का सम्पादन एवं मूल ग्रन्थों का अनुवाद एवं अध्ययन

बहुत आवश्यक है', निर्युक्ति साहित्य का अनुवाद आरम्भ करने के मूल में है। इस अवसर पर उनको सादर नमन है।

मैं परमादरणीय प्रो०सागरमल जैन, निदेशक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ का बहुत आभारी हूँ, जिन्होंने इस ग्रन्थ के अनुवाद की सहर्ष स्वीकृति ही नहीं प्रदान की बल्कि अनुवाद के समय अपने बहुमूल्य सुझाव दिये एवं सहयोग के लिए सदैव उपलब्ध रहे। इस ग्रन्थ की भूमिका के रूप में अपने उच्चकोटि के शोध लेख **'निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन'** को प्रकाशित करने की सहर्ष स्वीकृति देकर उन्होंने मुझ पर बड़ी कृपा की है और इस कृति की गरिमा में वृद्धि किया है।

मैं अपने परमपूज्य गुरु प्रोफेसर सुरेश चन्द्र पाण्डे, पूर्व अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय एवं प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग, पार्श्वनाथ विद्यापीठ को नमन करता हूँ जिनका आशीर्वाद मेरे लिए सतत् प्रेरणा का स्रोत एवं मार्गदर्शक रहा है। निर्युक्ति की सम्पूर्ण गाथाओं की संस्कृत छाया का संशोधन उनके द्वारा किया गया है।

जैन विद्या के अग्रणी विद्वान् प्रोफेसर एम०ए०ढाकी, डायरेक्टर, अमेरिकन इंस्टीच्यूट, रामनगर के भी बहुमूल्य सुझाव आशीर्वाद रूप में सदैव प्राप्त होते रहे हैं, इसे मैं अपना सद्भाग्य मानता हूँ।

प्राचीन ग्रन्थों का छन्द की दृष्टि से पाठ-निर्धारण के लिए उदयपुर सङ्गोष्ठी (प्रकीर्णक साहित्य मनन और मीमांसा) में प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान् प्रो०के०आर०चन्द्र, पूर्व अध्यक्ष, प्राकृत विभाग, गुजरात विश्वविद्यालय, अहमदाबाद द्वारा प्रस्तुत शोध लेख 'छन्द की दृष्टि से प्रकीर्णकों का पाठ निर्धारण' से प्रेरणा मिली इसके लिए मैं उनका सदैव आभारी रहूँगा।

इसी क्रम में मैं मान्य भाई डॉ०जितेन्द्र बी०शाह, निदेशक शारदाबेन चीमन भाई एजूकेशनल रिसर्च सेन्टर, अहमदाबाद के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। डॉ० शाह ने **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** के समान्तर गाथाओं की सेण्टर में उपलब्ध सूची भेजी जिससे समान्तर गाथाओं के सङ्कलन में बड़ी सुविधा मिली। वहाँ इस सूची को कम्प्यूटर से तैयार करने में डॉ०श्रीप्रकाश पाण्डेय, प्रवक्ता, पार्श्वनाथ विद्यापीठ (तत्कालीन शोधाधिकारी, शारदाबेन) की अहम भूमिका रही, अत: उन्हें भी धन्यवाद देता हूँ।

इस निर्युक्ति 'मूल' की शब्दानुक्रमणिका बनाने में मेरी बड़ी बेटी अदिति ने भी सहयोग किया अत: मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ।

मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ की प्रबन्ध समिति के मानद सचिव माननीय श्री भूपेन्द्र नाथ जैन और संयुक्त सचिव आदरणीय श्री इन्द्रभूति बरड़ का भी कृतज्ञ हूँ जिन्होंने इस कृति के प्रकाशन की स्वीकृति देकर इसे प्रकाश में लाने का मार्ग प्रशस्त किया।

मैं पार्श्वनाथ विद्यापीठ के अपने सहयोगियों प्रवक्तागण डॉ० शिवप्रसाद, डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय, डॉ० विजय कुमार, डॉ० सुधा जैन और डॉ० असीम कुमार मिश्र (शोध अध्येता) से समय-समय पर प्राप्त सहयोग के लिए धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

डॉ० श्रीप्रकाश पाण्डेय ने ग्रन्थ प्रकाशन की समुचित व्यवस्था का दायित्व वहन किया अत: उन्हें पुन: धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थ-लेखन के आरम्भ से ही विद्यापीठ पुस्तकालय के प्रभारी श्री ओम प्रकाश सिंह ने समय-असमय पुस्तकों को उपलब्ध कराकर जो सहयोग किया उसके लिए उन्हें धन्यवाद देता हूँ। मैं श्री राकेश कुमार सिंह के प्राप्त सहयोग का भी स्मरण करना चाहूँगा जिन्होंने आवश्यक छाया प्रति आदि तत्परता से उपलब्ध कराया। कराई

इस ग्रन्थ की अक्षर-सज्जा श्री अजय कुमार चौहान, 'सरिता कम्प्यूटर्स', औरंगाबाद, वाराणसी ने की और मुद्रण कार्य 'रत्ना प्रिण्टिंग वर्क्स' कमच्छा, वाराणसी ने किया है एतदर्थ हम उन दोनों लोगों के प्रति आभारी हैं।

डॉ० अशोक कुमार सिंह

●

भूमिका

निर्युक्ति साहित्य : एक पुनर्चिन्तन

प्रो० सागरमल जैन

जिसप्रकार वेद के शब्दों की व्याख्या के रूप में सर्वप्रथम निरुक्त लिखे गये उसी प्रकार सम्भवत: जैन परम्परा में आगमों की व्याख्या के लिए सर्वप्रथम निर्युक्तियों की रचना हुई। निर्युक्ति जैनागमों की प्राचीनतम व्याख्या है। इसके पश्चात् भाष्य, चूर्णि, संस्कृत टीका और टब्बा अर्थात् प्राचीन मरु-गुर्जर में निबद्ध आगमिक शब्दों के अर्थ का क्रम आता है। यही नहीं आधुनिक काल में भी हिन्दी, गुजराती एवं अंग्रेजी भाषा में आगमों पर व्याख्या साहित्य लिखा जाता रहा है।

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् शार्पेण्टियर 'उत्तराध्ययनसूत्र' (उपशाला, पृ०५०) की भूमिका में निर्युक्ति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं 'निर्युक्तियाँ मुख्य रूप से केवल सम्बन्धित ग्रन्थ की विषयसूची का काम करती हैं और वे सभी विस्तारयुक्त कथाओं को संक्षेप में उल्लिखित करती हैं'।

'अनुयोगद्वारसूत्र' में निर्युक्तियों के तीन विभाग किये गये हैं—

१. **निक्षेप-निर्युक्ति**– इसमें निक्षेपों के आधार पर पारिभाषिक शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है।

२. **उपोद्घात-निर्युक्ति**– इसमें आगम में वर्णित विषय का पूर्वभूमिका के रूप में स्पष्टीकरण किया जाता है।

३. **सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्ति**– इसमें आगम की विषय-वस्तु का उल्लेख किया जाता है।

प्रो०घाटगे ने (इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, खण्ड १२, पृष्ठ २७०) निर्युक्तियों को निम्न तीन विभागों में विभक्त किया है—

१. **शुद्ध-निर्युक्तियाँ**– जिनमें काल के प्रभाव से कुछ भी मिश्रण न हुआ हो, जैसे आचाराङ्ग और सूत्रकृताङ्ग की निर्युक्तियाँ।

२. **मिश्रित किन्तु व्यवच्छेद्य निर्युक्तियाँ**– जिनमें मूलभाष्यों का सम्मिश्रण हो गया है, तथापि वे व्यवच्छेद्य हैं, जैसे दशवैकालिक और आवश्यकसूत्र की निर्युक्तियाँ।

३. भाष्य मिश्रित-निर्युक्तियाँ– वे निर्युक्तियाँ जो आजकल भाष्य या बृहद्भाष्य में ही समाहित हो गयी हैं और उन दोनों को पृथक् कर पाना कठिन है, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तियां।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्युक्तियों में वस्तुत: आगम के पारिभाषिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ को सुनिश्चित करने का प्रयत्न हुआ है। ये अति संक्षिप्त हैं, इनमें मात्र आगमिक शब्दों एवं विषयों के अर्थ-सङ्केत हैं। भाष्य और टीकाओं के माध्यम से ही इन शब्दों एवं विषयों को सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। जैन आगमों पर प्रणीत निर्युक्तियाँ प्राकृत गाथाओं में हैं। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्ति शब्द का अर्थ और निर्युक्तियों का प्रयोजन बताते हुए कहा गया है— "एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, अत: कौन सा अर्थ किस प्रसङ्ग में उपयुक्त है, यह निर्णय आवश्यक होता है। महावीर के उपदेश के आधार पर लिखित आगमिक ग्रन्थों में किस शब्द का क्या अर्थ है, इसे स्पष्ट करना ही निर्युक्ति का प्रयोजन है।"[१] दूसरे शब्दों में निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है। जैन परम्परा में अनेक शब्द व्युत्पत्तिपरक अर्थ में गृहीत न होकर पारिभाषिक अर्थ में गृहीत हैं, जैसे अस्तिकायों के प्रसङ्ग में धर्म एवं अधर्म शब्द, कर्म सिद्धान्त के सन्दर्भ में कर्म शब्द एवं स्याद्वाद में प्रयुक्त स्यात् शब्द। आचाराङ्ग में 'दंसण' (दर्शन) शब्द का जो अर्थ है, उत्तराध्ययन में उसका वही अर्थ नहीं है। दर्शनावरण में दर्शन शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ दर्शनमोह के सन्दर्भ में नहीं है। अत: आगम ग्रन्थों में प्रसङ्गानुसार शब्द का अर्थ का निर्धारण करने में निर्युक्तियों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

निर्युक्तियों की व्याख्या शैली का आधार मुख्य रूप से जैन परम्परा में प्रचलित निक्षेप पद्धति रही है। जैन परम्परा में वाक्यार्थ का निश्चय नयों के आधार पर एवं शब्दार्थ का निश्चय निक्षेपों के आधार पर होता है। निक्षेप चार हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इन चार निक्षेपों के आधार पर एक ही शब्द के चार भिन्न अर्थ हो सकते हैं। निक्षेप पद्धति में शब्द के विविध सम्भावित अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध कर प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के रूप में आवश्यकनिर्युक्ति के प्रारम्भ में अभिनिबोध ज्ञान के चार भेदों के उल्लेख के पश्चात् उनके अर्थों को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि अर्थों (पदार्थों) का ग्रहण अवग्रह है एवं उनके सम्बन्ध में चिन्तन ईहा है।[२] इसीप्रकार निर्युक्तियों में किसी शब्द के पर्यायवाची— एकार्थक शब्दों का भी सङ्कलन किया गया है, जैसे— आभिनिबोधिक शब्द के पर्याय—ईहा, अपोह, विमर्श, मार्गणा, गवेषणा, संज्ञा, स्मृति, मति एवं प्रज्ञा।[३] निर्युक्तियाँ आगमों के महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों के अर्थों

को स्पष्ट करती हैं एवं आगमों के विभिन्न अध्ययनों और उद्देशकों का संक्षिप्त विवरण भी देती हैं। यद्यपि इसप्रकार की प्रवृत्ति सभी निर्युक्तियों में नहीं है, फिर भी उनमें आगमों के पारिभाषिक शब्दों के अर्थ तथा उनकी विषय-वस्तु का अति संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाता है।

प्रमुख निर्युक्तियाँ

आवश्यकनिर्युक्ति में निर्युक्तिकार ने निम्न दस निर्युक्तियों के लिखने की प्रतिज्ञा की थी[४]—

१. आवश्यकनिर्युक्ति	२. दशवैकालिकनिर्युक्ति
३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति	४. आचाराङ्गनिर्युक्ति
५. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति	६. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति
७. बृहत्कल्पनिर्युक्ति	८. व्यवहारनिर्युक्ति
९. सूर्यप्रज्ञप्तिनिर्युक्ति	१०. ऋषिभाषितनिर्युक्ति

मार्गदर्शक : सुविधिसागर जी महाराज

वर्तमान में आठ निर्युक्तियाँ ही उपलब्ध हैं, अन्तिम दो अनुपलब्ध हैं। आज यह निश्चय कर पाना अति कठिन है कि ये अन्तिम दो निर्युक्तियाँ लिखी भी गयीं या नहीं। ऐसा कोई निर्देश उपलब्ध नहीं होता, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि किसी काल में ये निर्युक्तियाँ रहीं और बाद में विलुप्त हो गयीं। यद्यपि मैंने अपनी ऋषिभाषित की भूमिका[५] में यह सम्भावना व्यक्त की है कि वर्तमान 'इसीमण्डलत्थु' सम्भवतः ऋषिभाषितनिर्युक्ति का परिवर्तित रूप हो, किन्तु इस सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से कुछ भी कहना कठिन है। इन दोनों निर्युक्तियों के अस्तित्व-अनास्तित्व के सन्दर्भ में हमारे सामने निम्न विकल्प हो सकते हैं—

१. यदि इन दसों निर्युक्तियों के कर्त्ता एक ही व्यक्ति हैं और उन्होंने इन निर्युक्तियों की रचना आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित क्रम में की है तो सम्भव है कि वे अपने जीवनकाल में आठ निर्युक्तियों की ही रचना कर पायें हों, अन्तिम दो की रचना नहीं कर पायें हों।

२. दूसरे, ग्रन्थों के महत्त्व के कारण इन दसों आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा निर्युक्तिकार ने कर ली हो किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में जैन-आचार मर्यादाओं के प्रतिकूल कुछ उल्लेख और ऋषिभाषित में नारद, मङ्खलिगोशाल आदि एवं जैन परम्परा के लिए विवादास्पद व्यक्तियों के उल्लेख देखकर उसने इन पर निर्युक्ति लिखने का विचार स्थगित कर दिया हो।

३. यह भी हो सकता है कि इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी गयी हों किन्तु विवादित विषयों का उल्लेख होने से इन निर्युक्तियों को पठन-पाठन से बाहर रखा गया हो और फलतः उपेक्षा के कारण कालक्रम में वे विलुप्त हो गयी हों। यद्यपि यहाँ एक शङ्का यह हो सकती है कि यदि जैन आचार्यों ने विवादित होते हुए भी इन दोनों ग्रन्थों को संरक्षित रखा तो उन्होंने इनकी निर्युक्तियों को संरक्षित करके क्यों नहीं रखा?

४. एक अन्य विकल्प यह भी हो सकता है कि दर्शनप्रभावक ग्रन्थ के रूप में मान्य गोविन्दनिर्युक्ति जिस प्रकार विलुप्त हो गई है, उसी प्रकार ये निर्युक्तियाँ भी विलुप्त हो गई हों।

निर्युक्ति साहित्य में उपरोक्त दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति एवं आराधनानिर्युक्ति को भी समाविष्ट किया जाता है। पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति का और ओघनिर्युक्ति आवश्यकनिर्युक्ति का एक अंश है। अतः इन दोनों को स्वतन्त्र निर्युक्ति ग्रन्थ नहीं कहा जा सकता है। वर्तमान में ये दोनों निर्युक्तियाँ अपने मूल ग्रन्थ से अलग होकर स्वतन्त्र रूप में ही उपलब्ध होती हैं। आचार्य मलयगिरि ने पिण्डनिर्युक्ति को दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग माना है, उनके अनुसार दशवैकालिक के 'पिण्डैषणा' नामक पाँचवें अध्ययन की निर्युक्ति के विशद होने से उसको वहाँ से पृथक् कर पिण्डनिर्युक्ति नाम से एक स्वतन्त्र ग्रन्थ बना दिया गया। मलयगिरि स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जहाँ दशवैकालिकनिर्युक्ति को ग्रन्थकार ने नमस्कारपूर्वक प्रारम्भ किया, वहीं पिण्डनिर्युक्ति में ऐसा नहीं है, अतः पिण्डनिर्युक्ति स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। दशवैकालिकनिर्युक्ति तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इन्हें बहुत पहले ही अलग कर दिया गया था। जहाँ तक आराधनानिर्युक्ति का प्रश्न है, श्वेताम्बर साहित्य में इसके उल्लेख का अभाव है। प्रो०ए०एन०उपाध्ये ने बृहत्कथाकोश की अपनी प्रस्तावना[९] (पृ०३१) में मूलाचार की एक गाथा पर वसुनन्दी की टीका के आधार पर इस निर्युक्ति का उल्लेख किया है, किन्तु आराधनानिर्युक्ति की उनकी यह कल्पना यथार्थ नहीं प्रतीत होती है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दी एवं प्रो०ए०एन०उपाध्ये मूलाचार की उक्त गाथा के अर्थ को सम्यक् प्रकार से समझ नहीं पाये हैं।[१०] वह गाथा निम्न है—

आराहण णिज्जुत्ति मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ ।
पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ य एरिसओ ।।

— (मूलाचार, पञ्चाचाराधिकार, २७९)

अर्थात् आराधना, निर्युक्ति, मरणविभक्ति, सङ्ग्रहणीसूत्र, स्तुति (वीरस्तुति), प्रत्याख्यान (महाप्रत्याख्यान, आतुरप्रत्याख्यान), आवश्यकसूत्र, धर्मकथा तथा ऐसे अन्य ग्रन्थों का अध्ययन अस्वाध्याय काल में किया जा सकता है। वस्तुत: मूलाचार की इस गाथा के अनुसार आराधना एवं निर्युक्ति ये अलग-अलग स्वतन्त्र ग्रन्थ है। यहाँ आराधना से तात्पर्य आराधना नामक प्रकीर्णक अथवा भगवती-आराधना से तथा निर्युक्ति से तात्पर्य आवश्यक आदि सभी निर्युक्तियों से है। अत: आराधनानिर्युक्ति की कल्पना अयथार्थ है। इन दस निर्युक्तियों के अतिरिक्त आर्य गोविन्द की गोविन्दनिर्युक्ति का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु यह निर्युक्ति भी वर्तमान में अनुपलब्ध है। इसका उल्लेख नन्दीसूत्र,[८] व्यवहारभाष्य,[९] आवश्यकचूर्णि[१०] एवं निशीथचूर्णि[११] में मिलता है। इस निर्युक्ति की विषय-वस्तु का उद्देश्य मुख्य रूप से एकेन्द्रिय अर्थात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति आदि में जीवन सिद्ध करना था। गोविन्द नामक कर्त्ता आचार्य के आधार पर ही इसका नामकरण हुआ है। कथानकों के अनुसार ये बौद्ध परम्परा से जैन परम्परा में दीक्षित हुए थे। मेरी दृष्टि में यह निर्युक्ति आचाराङ्ग के प्रथम अध्ययन और दशवैकालिक के चतुर्थ षड्जीवनिकाय अध्ययन से सम्बन्धित रही होगी। इसका उद्देश्य बौद्धों की मान्यता के विरुद्ध पृथ्वी, पानी आदि में जीवन की सिद्धि करना रहा होगा। इसी कारण इसकी गणना दर्शन प्रभावक ग्रन्थ में की गयी है। संज्ञी श्रुत के सन्दर्भ में इसका उल्लेख भी यही बताता है।[१२]

इसीप्रकार संसक्तनिर्युक्ति[१३] नामक एक और निर्युक्ति का उल्लेख मिलता है। इसमें ८४ आगमों के सम्बन्ध में उल्लेख है। इसमें मात्र ९४ गाथाएँ है। ८४ आगमों का उल्लेख होने से विद्वानों ने इसे पर्याप्त परवर्ती एवं विसङ्गत रचना माना है। अत: इसे प्राचीन निर्युक्ति साहित्य में परिगणित नहीं किया जा सकता है। इसप्रकार वर्तमान निर्युक्तियाँ दस निर्युक्तियों में समाहित हो जाती हैं। इनके अतिरिक्त अन्य किसी निर्युक्ति नामक ग्रन्थ की जानकारी हमें नहीं है।

दस निर्युक्तियों का रचनाक्रम

दसों निर्युक्तियों के कर्ता ने इनकी रचना एक क्रम में की होगी। निम्न प्रमाणों के आधार पर यह निश्चित होता है कि आवश्यकनिर्युक्ति में उल्लिखित क्रम से ही इनकी रचना हुई थी—

१. आवश्यकनिर्युक्ति की सर्वप्रथम रचना स्वत: सिद्ध है क्योंकि इसमें ही दस निर्युक्तियों की रचना की प्रतिज्ञा की गयी है और आवश्यक का नामोल्लेख सर्वप्रथम हुआ है।[१४] पुन: आवश्यकनिर्युक्ति की निह्नववाद से सम्बन्धित सभी गाथाएँ (गाथा

७७८ से ७८४)[१६] उत्तराध्ययननिर्युक्ति में (गाथा १६४ से १७८)[१७] प्राप्त होना भी यही सिद्ध करता है कि आवश्यकनिर्युक्ति के बाद ही उत्तराध्ययननिर्युक्ति आदि अन्य निर्युक्तियों की रचना हुई है। आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति की रचना हुई है और इसके बाद प्रतिज्ञागाथा के क्रमानुसार अन्य निर्युक्तियों की रचना की गई। इस कथन की पुष्टि उत्तराध्ययननिर्युक्ति के सन्दर्भों से होती है।

२. उत्तराध्ययननिर्युक्ति गाथा २९ के 'विणओ पुव्वुद्दिट्ठा' अर्थात् विनय के सम्बन्ध में हम पहले कह चुके हैं।[१८] इस उल्लेख का तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व रचित निर्युक्ति में विनय सम्बन्धी विवेचन था। दशवैकालिकनिर्युक्ति में विनय समाधि नामक नवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ३०९ से ३२६) में 'विनय' शब्द की व्याख्या से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है।[१९] इसीप्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा २०७) में 'कामापुव्वुद्दिट्ठा'[२०] से सूचित विवेचन भी हमें दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा १६१ से १६३ में प्राप्त हो जाता है।[२१] उपर्युक्त दोनों सूचनायें सिद्ध करती हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद ही लिखी गयी थी।

३. आवश्यकनिर्युक्ति के बाद दशवैकालिकनिर्युक्ति और फिर उत्तराध्ययननिर्युक्ति की रचना तो पूर्व चर्चा से सिद्ध हो चुकी है। इनके पश्चात् आचाराङ्गनिर्युक्ति की रचना हुई है, क्योंकि आचाराङ्गनिर्युक्ति की गाथा पाँच में कहा गया है— 'आयारे अंगम्मि य पुव्वुद्दिट्ठा चउक्कयं निक्खेवो' — आचार और अङ्ग के निक्षेपों का विवेचन पहले हो चुका है।[२२] दशवैकालिकनिर्युक्ति में 'क्षुल्लकाचार' अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ७९-८८) में 'आचार' शब्द के अर्थ का विवेचन तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति में 'चतुरङ्ग' अध्ययन की निर्युक्ति करते हुए गाथा १४३-१४४ में 'अङ्ग' शब्द का विवेचन किया गया है।[२३] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि आवश्यक, दशवैकालिक एवं उत्तराध्ययन के पश्चात् ही आचाराङ्गनिर्युक्ति का रचनाक्रम है।

इसीप्रकार आचाराङ्ग की चतुर्थ 'विमुक्तिचूलिका' की निर्युक्ति में 'विमुक्ति' शब्द की निर्युक्ति के क्रम में गाथा १३१ में लिखा है कि 'मोक्ष' शब्द की निर्युक्ति के अनुसार ही 'विमुक्ति' शब्द की भी निर्युक्ति समझें।[२४] उत्तराध्ययन के अट्ठाइसवें अध्ययन की निर्युक्ति (गाथा ४९७-९८) में मोक्ष शब्द की निर्युक्ति होने से[२५] यही सिद्ध हुआ कि आचाराङ्गनिर्युक्ति का क्रम उत्तराध्ययन के पश्चात् है। आवश्यकनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, उत्तराध्ययननिर्युक्ति एवं आचाराङ्गनिर्युक्ति के पश्चात् सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति का क्रम है। यह सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति की गाथा ९९ में उल्लिखित 'धर्म' शब्द के निक्षेपों का विवेचन पूर्व में हो चुका है (धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो) इस उल्लेख से ज्ञात होता है।[२६] दशवैकालिकनिर्युक्ति में दशवैकालिकसूत्र की प्रथम गाथा का विवेचन करते

समय धर्म शब्द के निक्षेपों का विवेचन हुआ है।[२७] इससे यह सिद्ध होता है कि सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति के बाद निर्मित हुई है। इसी प्रकार सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति की गाथा १२७ में कहा गया है, 'गंथोपुव्वुद्दिट्ठो'।[२८] हम देखते हैं कि उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा २६७-२६८) में 'ग्रन्थ' शब्द के निक्षेपों का भी कथन हुआ है।[२९] इससे सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति भी दशवैकालिकनिर्युक्ति एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति से परवर्ती ही सिद्ध होती है।

४. उपर्युक्त पाँच निर्युक्तियों के यथाक्रम से निर्मित होने के पश्चात् ही तीन छेद सूत्रों यथा— दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार पर निर्युक्तियाँ भी उनके उल्लेख क्रम से ही लिखी गयीं हैं। दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारम्भ में ही प्राचीनगोत्रीय सकल श्रुत के ज्ञाता और दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं व्यवहार के रचयिता भद्रबाहु को नमस्कार किया गया है। इनमें भी इन तीनों ग्रन्थों का उल्लेख उसी क्रम से है जिस क्रम से निर्युक्ति-लेखन की प्रतिज्ञा में है।[३०] उपर्युक्त आठ निर्युक्तियों की रचना के पश्चात् ही सूर्यप्रज्ञप्ति एवं इसिभासियाइं की निर्युक्ति की रचना होनी थी। इन दोनों ग्रन्थों पर निर्युक्तियाँ लिखी भी गयीं या नहीं, आज यह निर्णय करना अत्यन्त कठिन है। पूर्वोक्त प्रतिज्ञा गाथा के अतिरिक्त हमें इन निर्युक्तियों के सन्दर्भ में कहीं भी, कोई भी सूचना नहीं मिलती है।अतः इन निर्युक्तियों की रचना होना संदिग्ध ही है। या तो इन निर्युक्तियों के लेखन का क्रम आने से पूर्व ही निर्युक्तिकार का स्वर्गवास हो चुका होगा या फिर जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं इन दोनों ग्रन्थों में कुछ विवादित प्रसङ्गों का उल्लेख होने से निर्युक्तिकार ने इनकी रचना करने का निर्णय ही स्थगित कर दिया होगा।

अतः सम्भावना यही है कि ये दोनों निर्युक्तियाँ लिखी ही नहीं गईं। इसके कारण भले ही कुछ भी रहे हों। प्रतिज्ञागाथा के अतिरिक्त सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति गाथा १८९ में ऋषिभाषित का नाम अवश्य आया है।[३१] वहाँ यह कहा गया है कि जिस-जिस सिद्धान्त या मत में जिस किसी अर्थ का निश्चय करना होता है उसमें पूर्व कहा गया अर्थ ही मान्य होता है, जैसे कि— ऋषिभाषित में। किन्तु यह उल्लेख ऋषिभाषित मूल ग्रन्थ के सम्बन्ध में ही सूचना देता है न कि उसकी निर्युक्ति के सम्बन्ध में।

निर्युक्तिकार और रचना-काल

निर्युक्तियों के कर्ता कौन हैं? उनका रचना काल क्या है? — ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। अतः हम उन पर अलग-अलग विचार न करके एक साथ ही विचार करेंगे।

परम्परागत रूप से अन्तिम श्रुतकेवली, चतुर्दशपूर्वधर तथा छेदसूत्रों के रचयिता आर्य भद्रबाहु प्रथम को ही निर्युक्तियों का कर्त्ता माना जाता है। मुनि श्री पुण्यविजय जी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा श्रुतकेवली भद्रबाहु को निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करने वाले निम्न पाँच साक्ष्यों को सङ्कलित करके प्रस्तुत किया है, जिन्हें हम यहाँ अविकल रूप से दे रहे हैं[१२] —

१. अनुयोगदायिनः— सुधर्मस्वामिप्रभृतयः यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति।।

— आचाराङ्गसूत्र, शीलाङ्काचार्यकृत टीका-पत्र ४।

२. न च केषांचिदिहोदाहरणानां निर्युक्तिकालादर्वाक्कालाभाविता इत्यन्योक्तत्वमाशङ्कनीयम्, स हि भगवाँश्चतुर्दशपूर्ववित् श्रुतकेवली कालत्रयविषयं वस्तु पश्यत्येवेति कथमन्यकृतत्वाशङ्का? इति।--उत्तराध्ययनसूत्र शान्तिसूरिकृता टीका-पत्र १३९।

३. "गुणाधिकस्य वन्दनं कर्तव्यं न त्वधमस्य, यत उक्तम् —" गुणाहिए वंदणयं"। भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्दशपूर्वधरत्वाद् दशपूर्वधरादीनां च न्यूनत्वात् किं तेषां नमस्कारमसौ करोति? इति। अत्रोच्यते— गुणाधिका एव ते, अव्यवच्छित्ति-गुणाधिक्यात्, अतो न दोष इति।" — ओघनिर्युक्ति द्रोणाचार्यकृतश्टीका-पत्र३।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सविलसागर जी महाराज

४. "इह चरणकरणक्रियाकलापतरुमूलकल्पं सामायिकादिषडध्ययनात्मकश्रुतस्कन्धरूपमावश्यकं तावदर्थतस्तीर्थकरैः सूत्रतस्तु गणधरैर्विरचितम्। अस्य चातीव गम्भीरार्थतां सकलसाधु—श्रावकवर्गस्य नित्योपयोगितां च विज्ञाय चतुर्दशपूर्वधरेण श्रीमद्भद्रबाहुनै- तद्व्याख्यानरूपा" आभिणिबोहियनाणं०" इत्यादिप्रसिद्धग्रन्थरूपा निर्युक्तिः कृता।" विशेषावश्यक मलधारिहेमचन्द्रसूरिकृत टीका-पत्र १।

५. "साधूनामनुग्रहाय चतुर्दशपूर्वधरेण भगवता भद्रबाहुस्वामिना कल्पसूत्रं व्यवहारसूत्रं चाकारि, उभयोरपि च सूत्रस्पर्शिकानिर्युक्तिः।" बृहत्कल्पपीठिका मलयगिरिकृतं टीका-पत्र २।

६. "इहश्रीमदावश्यकादिसिद्धान्तप्रतिबद्धनिर्युक्तिशास्त्रसंसूत्रणसूत्रधारः...श्रीभद्रबाहुस्वामी... कल्पनामधेयमध्ययनं निर्युक्तियुक्तं निर्यूढवान्।" बृहत्कल्पपीठिका श्रीक्षेमकीर्ति- सूरिअनुसन्धिता टीका-पत्र १७७।

इन समस्त सन्दर्भों से स्पष्ट होता है कि श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु प्रथम को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने वाला प्राचीनतम सन्दर्भ आर्यशीलाङ्क का है। आर्यशीलाङ्क का समय विक्रम संवत् की ९वीं-१०वीं सदी के लगभग माना जाता है। जिन अन्य आचार्यों ने निर्युक्तिकार के रूप में भद्रबाहु प्रथम को माना है, उनमें

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आर्यद्रोण, मलधारी हेमचन्द्र, मलयगिरि, शान्तिसूरि तथा क्षेमकीर्तिसूरि के नाम प्रमुख हैं किन्तु ये सभी आचार्य विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् हुए हैं। अतः इनका कथन बहुत अधिक प्रामाणिक नहीं हो सकता है। उन्होंने मात्र अनुश्रुतियों के आधार पर लिखा है। दुर्भाग्य से ८वीं-९वीं सदी के पश्चात् चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु और वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु के कथानक, नामसाम्य के कारण एक-दूसरे से घुल-मिल गये और दूसरे भद्रबाहु की रचनायें भी प्रथम के नाम से चढ़ा दी गईं। यही कारण रहा कि नैमित्तिक भद्रबाहु को भी प्राचीनगोत्रीय श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर के साथ जोड़ दिया गया है और दोनों के जीवन की घटनाओं के इस घाल-मेल से अनेक अनुश्रुतियाँ प्रचलित हो गईं। इन्हीं अनुश्रुतियों के परिणामस्वरूप निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु की अनुश्रुति प्रचलित हो गयी। यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी ने बृहत्कल्पसूत्र (निर्युक्ति, लघुभाष्य-वृत्युपेतम्) के षष्ठ विभाग के आमुख में यह लिखा है कि निर्युक्तिकार स्थविर आर्य भद्रबाहु हैं, इस मान्यता को पुष्ट करने वाला एक प्रमाण जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञ टीका में भी मिलता है।[३३] यद्यपि उन्होंने वहाँ उस प्रमाण का सन्दर्भ सहित उल्लेख नहीं किया है। मैं इस सन्दर्भ को खोजने का प्रयत्न कर रहा हूँ। उसके मिल जाने पर भी हम केवल इतना ही कह सकेंगे कि विक्रम की लगभग सातवीं शती से निर्युक्तिकार प्राचीनगोत्रीय चतुदर्श पूर्वधर भद्रबाहु हैं, ऐसी अनुश्रुति प्रचलित हो गयी थी।

निर्युक्तिकार, प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु हैं अथवा नैमित्तिक (वाराहमिहिर के भाई) भद्रबाहु हैं, यह प्रश्न विवादास्पद है। जैसा कि हमने सङ्केत किया है निर्युक्तियों को प्राचीनगोत्रीय चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु कृत मानने की परम्परा आर्यशीलाङ्क से या उसके पूर्व जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से प्रारम्भ हुई है। किन्तु उनके इस उल्लेख में कितनी प्रामाणिकता है यह विचारणीय है, क्योंकि निर्युक्तियों में ही ऐसे अनेक प्रमाण उपस्थित हैं, जिनसे निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता में बाधा उत्पन्न होती है। इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजयजी ने अत्यन्त परिश्रम द्वारा वे सब सन्दर्भ प्रस्तुत किये हैं, जो निर्युक्तिकार पूर्वधर भद्रबाहु हैं, इस मान्यता के विरोध में जाते हैं। हम उनकी स्थापनाओं के हार्द को ही हिन्दी भाषा में रूपान्तरित कर निम्न पंक्तियों में प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६४-७७६) में वज्रस्वामी के विद्यागुरु आर्यसिंहगिरि, आर्यवज्रस्वामी, तोषलिपुत्र, आर्यरक्षित, आर्य फल्गुमित्र, स्थविर भद्रगुप्त जैसे आचार्यों का स्पष्ट उल्लेख है।[३४] ये सभी आचार्य चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु से परवर्ती हैं। तोषलिपुत्र के अतिरिक्त सभी कल्पसूत्र स्थविरावली में उल्लिखित हैं। यदि

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्युक्तियाँ चतुर्दश पूर्वधर आर्यभद्रबाहु की कृति होतीं तो उनमें इन नामों के उल्लेख सम्भव नहीं थे।

२. इसीप्रकार पिण्डनिर्युक्ति (गाथा ४९८) में पादलिप्ताचार्य[३५] एवं गाथा ५०३ से ५०५ में वज्रस्वामी के मामा समितसूरि[३६] के साथ ब्रह्मदीपकशाखा[३७] का भी उल्लेख है, ये उल्लेख यही सिद्ध करते हैं कि पिण्डनिर्युक्ति भी चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु की कृति नहीं है, क्योंकि पादलिप्तसूरि, समितसूरि तथा ब्रह्मदीपकशाखा की उत्पत्ति प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु से परवर्ती है।

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा १२०) में कालकाचार्य[३८] की कथा का सङ्केत है। कालकाचार्य भी प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु से लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् हुए है।

४. ओघनिर्युक्ति की प्रथम गाथा में चतुर्दश पूर्वधर, दश पूर्वधर एवं एकादश अङ्गों के ज्ञाताओं को सामान्य रूप से नमस्कार किया गया है,[३९] ऐसा द्रोणाचार्य ने अपनी टीका में सूचित किया है।[४०] यद्यपि मुनि श्री पुण्यविजय जी सामान्य कथन की दृष्टि से इसे असम्भव नहीं मानते हैं, क्योंकि आज भी आचार्य, उपाध्याय एवं मुनि नमस्कारमन्त्र में अपने छोटे पद और व्यक्तियों को नमस्कार करते है। किन्तु मेरी दृष्टि में कोई भी चतुर्दश पूर्वधर दसपूर्वधर को नमस्कार करे, यह उचित नहीं लगता। पुनः आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६९) में दस पूर्वधर वज्रस्वामी को नाम लेकर जो वन्दन किया गया है,[४१] वह कदापि उचित नहीं माना जा सकता है।

५. पुनः आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा ७६३-७७४) में निर्दिष्ट है कि शिष्यों की स्मरण शक्ति का ह्रास देखकर आर्य रक्षित ने, वज्रस्वामी के काल तक जो आगम अनुयोगों में विभाजित नहीं थे, उन्हें अनुयोगों में विभाजित किया।[४२] परवर्ती घटना सूचक यह कथन भी प्रमाणित करता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हैं, अपितु आर्यरक्षित के पश्चात् होने वाले कोई भद्रबाहु हैं।

६. दशवैकालिकनिर्युक्ति[४३] (गाथा ४) एवं ओघनिर्युक्ति[४४] (गाथा २) में चरणकरणानुयोग की निर्युक्ति कहूँगा इस उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्युक्ति की रचना अनुयोगों के विभाजन के बाद अर्थात् आर्यरक्षित के पश्चात् हुई है।

७. आवश्यकनिर्युक्ति[४५] (गाथा ७७८-७८३) में तथा उत्तराध्ययननिर्युक्ति (गाथा १६४-१७८) में सात निह्नव और आठवें बोटिक मत की उत्पत्ति का उल्लेख हुआ है। अन्तिम सातवें निह्नव तथा बोटिक मत की उत्पत्ति क्रमशः वीरनिर्वाण संवत् ५८४ एवं ६०९ में हुई। ये घटनाएँ चतुर्दशपूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु के

लगभग चार सौ वर्ष पश्चात् हुई है। अतः उनके द्वारा रचित निर्युक्ति में इनका उल्लेख होना सम्भव नहीं है। वैसे मेरी दृष्टि में बोटिक मत की उत्पत्ति का कथन निर्युक्तिकार का नहीं है— निर्युक्ति में सात निह्नवों का ही उल्लेख है। निह्नवों के काल एवं स्थान सम्बन्धी गाथाएँ भाष्य की गाथाएँ हैं— जो बाद में निर्युक्ति में मिल गई हैं। किन्तु निर्युक्तियों में सात निह्नवों का उल्लेख होना भी इस बात का प्रमाण है कि निर्युक्तियाँ प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु की कृतियाँ नहीं हैं।

८. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति (गाथा १४६) में द्रव्य-निक्षेप के सम्बन्ध में एकभविक, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र— ऐसे तीन आदेशों का उल्लेख हुआ है।[४७] ये विभिन्न मान्यताएँ भद्रबाहु के काफी पश्चात् आर्य सुहस्ति, आर्य मंक्षु आदि परवर्ती आचार्यों के काल में निर्मित हुई हैं। अतः इन मान्यताओं के उल्लेख से भी निर्युक्तियों के कर्त्ता चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु हैं, यह मानने में बाधा आती है।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मुनिश्री पुण्यविजय जी ने उत्तराध्ययन के टीकाकार शान्त्याचार्य, जो निर्युक्तिकार के रूप में चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु को मानते हैं, की इस मान्यता का भी उल्लेख किया है कि निर्युक्तिकार त्रिकालज्ञानी हैं। अतः उनके द्वारा परवर्ती घटनाओं का उल्लेख होना असम्भव नहीं है।[४८] मुनि पुण्यविजय जी कहते हैं कि हम शान्त्याचार्य की यह बात स्वीकार कर भी लें, तो भी निर्युक्तियों में वज्रस्वामी को नामपूर्वक नमस्कार आदि, किसी भी दृष्टि से युक्तिसङ्गत नहीं कहा जा सकता। वे लिखते हैं कि यदि उपर्युक्त घटनाएँ घटित होने के पूर्व ही निर्युक्तियों में उल्लिखित कर दी गयीं हों तो भी अमुक मान्यता अमुक पुरुष द्वारा स्थापित हुई यह कैसे कहा जा सकता है।[४९]

पुनः जिन दस आगम ग्रन्थों पर निर्युक्ति लिखने का उल्लेख आवश्यक निर्युक्ति में है, उससे यह स्पष्ट है कि भद्रबाहु के समय आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग आदि अतिविस्तृत एवं परिपूर्ण थे। ऐसी स्थिति में उन आगमों पर लिखी गयी निर्युक्ति भी अतिविशाल एवं चारों अनुयोगमय होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में भद्रबाहु को निर्युक्तिकार मानने वाले विद्वानों का तर्क है कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ही थे और उनके द्वारा रचित निर्युक्तियाँ भी रचना के समय अतिविशाल थीं। कालान्तर में स्थविर आर्यरक्षित ने अपने शिष्य पुष्यमित्र की विस्मृति एवं भविष्य में होने वाले शिष्यों की मन्द बुद्धि को ध्यान में रखकर आगमों के अनुयोगों की भाँति निर्युक्तियों को भी व्यवस्थित एवं संक्षिप्त किया। इसके प्रत्युत्तर में मुनि श्री पुण्यविजयजी ने दो तर्क प्रस्तुत किये हैं— प्रथम, आर्यरक्षित द्वारा अनुयोगों को पृथक् करना उल्लिखित है, किन्तु निर्युक्तियों को व्यवस्थित करने का एक भी उल्लेख नहीं है। स्कन्दिल

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

आदि ने विभिन्न वाचनाओं में 'आगमों' को ही व्यवस्थित किया, निर्युक्तियों को नहीं।[५०]

दूसरे, उपलब्ध निर्युक्तियाँ भद्रबाहु प्रथम के युग में विद्यमान विशाल अङ्ग-आगमों पर नहीं हैं। परम्परागत मान्यता है कि आर्यरक्षित के युग में भी आचाराङ्ग एवं सूत्रकृताङ्ग आकार में उतने ही विशाल थे, जितने भद्रबाहु के काल में। ऐसी स्थिति में चाहे एक ही अनुयोग का अनुसरण करके निर्युक्तियाँ लिखी गयी हों, उनकी विषय-वस्तु तो विशाल होनी चाहिए थी। जबकि आज उपलब्ध निर्युक्तियाँ माथुरीवाचना द्वारा या वलभी वाचना द्वारा निर्धारित पाठ वाले आगमों का ही अनुसारण कर रही है। यदि यह कहा जाय कि अनुयोगों का पृथक्करण करते समय आर्यरक्षित ने निर्युक्तियों को भी पुन: व्यवस्थित किया और उनमें अनेक गाथायें प्रक्षिप्त भी की तो प्रश्न उठता है कि उनमें गोष्ठामाहिल और बोटिक मत की उत्पत्ति सम्बन्धी विवरण कैसे आये, क्योंकि इन दोनों की उत्पत्ति आर्यरक्षित के स्वर्गवास के पश्चात् हुई है।

मेरी दृष्टि में सप्त निह्नवों का उल्लेख करने वाली गाथाएँ तो मूल गाथाएँ हैं, किन्तु बोटिक मत के उत्पत्ति स्थल (रथवीरपुर) एवं उत्पत्तिकाल (वीर नि०सं०६०९) का उल्लेख करने वाली गाथायें प्रक्षिप्त गाथायें है। वे गाथाएँ निर्युक्ति की न होकर भाष्य की हैं, क्योंकि निह्नवों एवं उनके मतों का जहाँ भी उल्लेख है वहाँ सात का ही नाम आया है। उनके उत्पत्तिस्थल एवं काल को सूचित करने वाली इन दो गाथाओं में ये संख्या आठ हो गयी।[५१] आश्चर्य यह है कि आवश्यकनिर्युक्ति में बोटिकों की उत्पत्ति की कोई चर्चा नहीं है और यदि बोटिकमत के प्रस्तोता एवं उनके मन्तव्य का उल्लेख मूल आवश्यकनिर्युक्ति में नहीं है, तो फिर उनके उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल का उल्लेख निर्युक्ति में कैसे हो सकता है? वस्तुत: भाष्य की अनेक गाथायें निर्युक्तियों में मिल गई हैं। अत: ये नगर एवं काल सूचक गाथाएँ भाष्य की होनी चाहिये। उत्तराध्ययननिर्युक्ति (तृतीय अध्ययन) की निर्युक्ति के अन्त में उक्त सप्त निह्नवों का उल्लेख होने के बाद एक गाथा में रथवीरपुर नगर के दीपक उद्यान में शिवभूति का आर्यकृष्ण से विवाद होने का उल्लेख है।[५२] उल्लेखनीय है कि इसमें विवाद के स्वरूप और अन्य किसी बात की चर्चा नहीं है जबकि यहाँ प्रत्येक निह्नव के मन्तव्य का आवश्यकनिर्युक्ति की अपेक्षा विस्तृत विवरण दिया गया है। अत: मेरी दृष्टि में यह गाथा भी प्रक्षिप्त है। यह गाथा आवश्यक मूलभाष्य में प्राप्त गाथा की अनुकृति है। यह गाथा बहुत अधिक प्रासङ्गिक भी नहीं कही जा सकती। निश्चित् रूप से उत्तराध्ययननिर्युक्ति में भी निह्नवों की चर्चा के बाद ही यह गाथा प्रक्षिप्त की गयी है।

यह भी तर्कसङ्गत नहीं प्रतीत होता कि चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के काल में रचित निर्युक्तियों को आर्यरक्षित के काल में सर्वप्रथम व्यवस्थित किया गया और परवर्ती आचार्यों ने अपने युग की आगमिक वाचना के अनुसार पुनः उन्हें व्यवस्थित किया। आश्चर्य तब और अधिक बढ़ जाता है जब इस परिवर्तन के विरुद्ध कोई भी स्वर उभरने की कहीं कोई सूचना प्राप्त नहीं होती है। इसके विपरीत आगमों में कुछ परिवर्तन करने का जब भी प्रयत्न किया गया तो उसके विरुद्ध स्वर उभरे और उन्हें उल्लिखित भी किया गया।

उत्तराध्ययननिर्युक्ति ('अकाममरणीय' अध्ययन) में निम्न गाथा प्राप्त होती है—

सव्वे एए दारा मरणाविभत्तीए वण्णिआ कमसो ।
सगलणिउणे पयत्थे जिण चउदस पुव्वि भासंति ।।२३२।।

(ज्ञातव्य है कि मुनिपुण्यविजय जी ने इसे गाथा २३३ लिखा है किन्तु 'निर्युक्तिसङ्ग्रह' में इस गाथा का क्रम २३२ ही है)।

इसके अनुसार "मरणविभक्ति में इन सभी द्वारों का अनुक्रम से वर्णन किया गया है, पदार्थों को सम्पूर्ण रूप से तो जिन अथवा चतुर्दशपूर्वधर ही जान सकते हैं।" यदि निर्युक्तिकार चतुर्दशपूर्वधर होते तो वे इस प्रकार नहीं लिखते। शान्त्याचार्य ने इसे दो आधारों पर व्याख्यायित किया है। प्रथम, चतुर्दश पूर्वधरों में परस्पर अर्थज्ञान की अपेक्षा से कमी-अधिकता होती है, इसी दृष्टि से यह कहा गया हो कि पदार्थों का सम्पूर्ण स्वरूप तो चतुर्दशपूर्वी ही बता सकते हैं अथवा द्वार गाथा से लेकर आगे की ये सभी गाथाएँ भाष्य गाथाएँ हों।[५१] मुनि पुण्यविजय जी इन्हें भाष्य गाथाएँ स्वीकार नहीं करते हैं। भले ही ये गाथाएँ भाष्य-गाथा हों या न हों किन्तु शान्त्याचार्य ने निर्युक्तियों में भाष्य गाथा मिली होने की जो कल्पना की है, वह पूर्णतया असङ्गत नहीं है।

पुनः जैसा पूर्व में सूचित किया जा चुका है, सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति (पुण्डरीक अध्ययन) में 'पुण्डरीक' शब्द की निर्युक्ति करते समय द्रव्य निक्षेप से एकभविक, बद्धायुष्य और अभिमुखित नाम-गोत्र ऐसे तीन आदेशों का निर्युक्तिकार ने स्वयं ही सङ्ग्रह किया है।[५४] बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (प्रथमविभाग, पृष्ठ ४४-४५) में ये तीनों आदेश आर्यसुहस्ति, आर्य मङ्गु एवं आर्यसमुद्र की मान्यताओं के रूप में उल्लिखित हैं।[५५] इन तीनों आचार्यों के पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु (प्रथम) से परवर्ती होने से उनके मतों का सङ्ग्रह पूर्वधर भद्रबाहु द्वारा सम्भव नहीं है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के प्रारम्भ में निम्न गाथा प्राप्त होती है—

वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं ।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ।।

इसमें सकलश्रुतज्ञानी प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु का वन्दन करते हुए उन्हें दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प एवं व्यवहार का रचयिता भी कहा गया है। यदि निर्युक्तियों के कर्त्ता पूर्वधर श्रुतकेवली भद्रबाहु होते तो, वे स्वयं अपने को कैसे नमस्कार करते। इस गाथा को हम प्रक्षिप्त या भाष्य गाथा भी नहीं कह सकते। ग्रन्थ की प्रारम्भिक मङ्गल गाथा होने से चूर्णिकार ने भी स्वयं इसको निर्युक्तिगाथा के रूप में मान्य किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि निर्युक्तिकार चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु नहीं हो सकते।

इस समस्त चर्चा के आधार पर मुनि जी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परम्परागत दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्ध, कल्पसूत्र, व्यवहारसूत्र एवं निशीथ ये चार छेदसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति आदि दस निर्युक्तियाँ, उवसग्गहर (उपसर्गहर) एवं भद्रबाहुसंहिता— ये सभी कृतियाँ चतुर्दश पूवर्धर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु स्वामी की मानी जाती हैं, किन्तु इनमें से चार छेदसूत्रों के रचयिता ही चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु हैं। शेष दस निर्युक्तियों, उवसग्गहर एवं भद्रबाहु संहिता के रचयिता अन्य कोई भद्रबाहु होने चाहिए और सम्भवत: ये अन्य कोई नहीं, अपितु वाराहसंहिता के रचयिता वाराहमिहिर के सहोदर मन्त्रविद्यापारगामी नैमित्तिक भद्रबाहु ही होने चाहिए।[५५]

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में नैमित्तिक भद्रबाहु के होने के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये[५६]—

१. आवश्यकनिर्युक्ति (गाथा १२५२ से १२७०) में प्राप्त गन्धर्व नागदत्त के कथानक में नागदत्त के द्वारा सर्प के विष उतारने की क्रिया का वर्णन है।[५७] उवसग्गहर में भी सर्प के विष उतारने की चर्चा है। अत: दोनों के कर्त्ता एक ही हैं और वे दोनों तन्त्र-मन्त्र में आस्था रखते थे।

२. पुन: नैमित्तिक भद्रबाहु के निर्युक्तियों के कर्त्ता होने के पक्ष में एक प्रमाण उनके द्वारा अपनी प्रतिज्ञागाथा में सूर्यप्रज्ञप्ति पर निर्युक्ति लिखने की प्रतिज्ञा[५८] भी है। ऐसा साहस कोई ज्योतिष का विद्वान् ही कर सकता था। आचाराङ्गनिर्युक्ति में भी स्पष्ट रूप से निमित्त विद्या का निर्देश हुआ है।[५९]

नैमित्तिक भद्रबाहु को निर्युक्तिकार स्वीकार करने पर हमें निर्युक्तियाँ को विक्रम की छठीं सदी की रचनाएँ मानना होगा क्योंकि वाराहमिहिर ने स्वयं अपने समय (शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६६) का उल्लेख किया है।[६०] नैमित्तिक

भद्रबाहु, वाराहमिहिर के भाई होने से उनके समकालीन हैं अत: इस स्थिति में निर्युक्तियों का रचनाकाल भी विक्रम की छठीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध स्वत: सिद्ध है। परन्तु निर्युक्तियों को विक्रम की छठीं सदी में उत्पन्न हुए नैमित्तिक भद्रबाहु की कृति मानने पर हमारे सामने कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में निर्युक्तियों के अस्तित्व का स्पष्ट उल्लेख है—

संखेज्जाओ निज्जुत्तीओ संखेज्जा संगहणीओ (नन्दीसूत्र, सूत्र सं० ४६)

स सुत्ते सअत्थे सनिज्जुतिए ससंगहणिए (पाक्षिकसूत्र, पृ० ८०)

निश्चित रूप से नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र ये दोनों ग्रन्थ विक्रम की छठीं सदी के पूर्व निर्मित हो चुके थे। अत: इन ग्रन्थों में छठीं सदी के उत्तरार्द्ध में रचित निर्युक्तियों का उल्लेख कैसे सम्भव है? इस सम्बन्ध में मुनिश्री पुण्यविजय जी का तर्क है कि नन्दीसूत्र में निर्युक्तियों का उल्लेख गोविन्दनिर्युक्ति आदि को ध्यान में रखकर किया गया होगा।[६१] यह सत्य है कि गोविन्दनिर्युक्ति एक प्राचीन रचना है क्योंकि निशीथचूर्णि में गोविन्दनिर्युक्ति के उल्लेख के साथ-साथ गोविन्दनिर्युक्ति की उत्पत्ति की कथा भी दी गई है।[६२] गोविन्दनिर्युक्ति के रचयिता, नन्दीसूत्र में अनुयोगद्वार के ज्ञाता के रूप में उल्लखित, आर्यगोविन्द ही होने चाहिए। स्थविरावली के अनुसार ये आर्य स्कन्दिल की चौथी पीढ़ी में हैं।[६३] अत: इनका काल विक्रम की पाँचवीं सदी निश्चित होता है। इसी आधार पर मुनिश्री पुण्यविजय जी का अभिमत है कि नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में निर्युक्ति का उल्लेख आर्यगोविन्द की निर्युक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है और दसों निर्युक्तियों के रचयिता नैमित्तिक भद्रबाहु हैं।

मुनिश्री पुण्यविजयजी की इस मान्यता को पूर्णत: स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि उपरोक्त दस निर्युक्तियों की रचना से पूर्व भले ही आर्यगोविन्द की निर्युक्ति अस्तित्व में हो, किन्तु नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र का निर्युक्ति सम्बन्धी उल्लेख आचाराङ्ग आदि आगम ग्रन्थों की निर्युक्ति के सम्बन्ध में ही है। गोविन्दनिर्युक्ति किसी आगम ग्रन्थ पर निर्युक्ति नहीं है, निशीथचूर्णि आदि में प्राप्त सभी उल्लेख इसे दर्शनप्रभावक ग्रन्थ और एकेन्द्रिय में जीव की सिद्धि करने वाला ग्रन्थ बताते हैं।[६४] अत: उनकी यह मान्यता कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में गोविन्दनिर्युक्ति के सन्दर्भ में उल्लेख है, समुचित नहीं है। अत: यह मानना होगा कि नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व अर्थात् पाँचवीं शती के पूर्व आगमों पर निर्युक्ति लिखी जा चुकी थी।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२. दूसरे, इन दस निर्युक्तियों में कई ऐसे तथ्य हैं जो इन्हें वाराहमिहिर के भाई एवं नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम संवत् ५६६) की रचना मानने में बाधक हैं। आवश्यकनिर्युक्ति (सामायिक अध्ययन) में निह्नवों के उत्पत्ति स्थल एवं उत्पत्तिकाल सम्बन्धी गाथा एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति (तीसरे अध्ययन की निर्युक्ति) में शिवभूति का उल्लेख करने वाली गाथायें प्रक्षिप्त हैं। इसका प्रमाण यह है कि उत्तराध्ययनचूर्णि, इस निर्युक्ति की प्रामाणिक व्याख्या— में १६७ गाथा तक की ही चूर्णि दी गयी है। निह्नवों के सन्दर्भ में अन्तिम चूर्णि 'जेट्ठा सुदंसण' नामक १६७ वीं गाथा की है। उसके आगे निह्नवों के वक्तव्य को सामायिकनिर्युक्ति (आवश्यकनिर्युक्ति) के आधार पर जान लेना चाहिए' ऐसा निर्देश है।[५५] ज्ञातव्य है कि सामायिकनिर्युक्ति में बोटिकों का कोई उल्लेख नहीं है। उस निर्युक्ति में जो बोटिक मत के उत्पत्तिकाल एवं स्थल का उल्लेख है, वह प्रक्षिप्त है एवं वे भाष्य गाथाएँ हैं— यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं। उत्तराध्ययनचूर्णि में निह्नवों की कालसूचक गाथाओं को निर्युक्तिगाथाएँ न कहकर आख्यानक सङ्ग्रहणी की गाथा कहा जाना भी,[५६]— आवश्यकनिर्युक्ति में निह्नवों के उत्पत्तिनगर एवं उत्पत्तिकाल सूचक गाथाएँ मूलतः निर्युक्ति की गाथाएँ नहीं हैं, अपितु सङ्ग्रहणी अथवा भाष्य से उसमें प्रक्षिप्त की गयी हैं— मेरी इस मान्यता की पुष्टि करता है। क्योंकि इन गाथाओं में उनके उत्पत्ति नगरों एवं उत्पत्ति-समय दोनों की संख्या आठ-आठ है। इस प्रकार इनमें बोटिकों के उत्पत्तिनगर और समय का भी उल्लेख है। आश्चर्य यह है कि ये गाथाएँ सप्त निह्नवों की चर्चा के बाद दी गईं— जबकि बोटिकों की उत्पत्ति का उल्लेख तो इसके भी बाद में है और मात्र एक गाथा में है। अतः ये गाथाएँ किसी भी स्थिति में निर्युक्ति की गाथायें नहीं मानी जा सकती हैं।

यदि बोटिक निह्नव सम्बन्धी गाथाओं को निर्युक्ति गाथाएँ मान भी लें तो भी निर्युक्ति के रचनाकाल की अपर सीमा को वीरनिर्वाण संवत् ६१० अर्थात् विक्रम की तीसरी शती के पूर्वार्ध से आगे नहीं ले जाया जा सकता है क्योंकि इसके बाद का कोई उल्लेख हमें निर्युक्तियों में नहीं मिला। यदि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम की छठीं सदी उत्तरार्द्ध) की रचनाएँ होती तो उनमें विक्रम की तीसरी सदी से लेकर छठीं सदी के बीच के किसी न किसी आचार्य एवं घटना का उल्लेख भी, चाहे सङ्केत रूप में ही क्यों न हो, अवश्य होता। अन्य कुछ भी नहीं तो माथुरी एवं वलभी वाचना के उल्लेख अवश्य होते, क्योंकि नैमित्तिक भद्रबाहु उनके बाद ही हुए हैं। वे वलभी वाचना के आयोजक देवर्द्धिगणि के तो कनिष्ठ समकालिक हैं, अतः यदि वे निर्युक्तिकर्त्ता होते तो वलभी वाचना का उल्लेख निर्युक्तियों में अवश्य करते।

३. नैमित्तिक भद्रबाहु (छठीं सदी उत्तरार्द्ध) कृत निर्युक्तियों में गुणस्थान की धारणा अवश्य ही पाई जाती क्योंकि छठीं सदी के उत्तरार्द्ध तक गुणस्थान का उल्लेख मिलता है किन्तु जहाँ तक मुझे ज्ञात है निर्युक्तियों में गुणस्थान सम्बन्धी अवधारणा का कहीं भी उल्लेख नहीं है। आवश्यकनिर्युक्ति की जिन दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नामों का उल्लेख मिलता है,[६७] वे मूलतः निर्युक्ति गाथाएँ नहीं हैं। आवश्यक मूल पाठ में चौदह भूतग्रामों (जीव-जातियों) का ही उल्लेख है, गुणस्थानों का नहीं, अतः निर्युक्ति तो चौदह भूतग्रामों की ही लिखी गयी। भूतग्रामों के विवरण के बाद दो गाथाओं में चौदह गुणस्थानों के नाम दिये गये हैं यद्यपि यहाँ गुणस्थान शब्द का प्रयोग नहीं है। ये दोनों गाथाएँ प्रक्षिप्त हैं, क्योंकि हरिभद्र (आठवीं सदी) ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में "अधुनामुमेव गुणस्थानद्वारेण दर्शयन्नाह संग्रहणिकारः" कहकर इन दोनों गाथाओं को सङ्ग्रहणी गाथा के रूप में उद्धृत किया है।[६८] अतः गुणस्थान सिद्धान्त के स्थिर होने के पश्चात् ये सङ्ग्रहणी गाथाएँ निर्युक्ति में मिला दी गई हैं। निर्युक्तियों में गुणस्थान अवधारणा की अनुपस्थिति इस तथ्य का प्रमाण है कि उनकी रचना तीसरी-चौथी सदी के पूर्व हुई थी। इसका तात्पर्य यह है कि निर्युक्तियाँ नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना नहीं हैं।

४. साथ ही आचाराङ्गनिर्युक्ति में आध्यात्मिक विकास की उन्हीं दस अवस्थाओं का विवेचन है[६९] जो तत्त्वार्थसूत्र में प्राप्त हैं[७०] और आगे चलकर जिनसे गुणस्थान की अवधारणा विकसित हुई है। तत्त्वार्थसूत्र तथा आचाराङ्गनिर्युक्ति दोनों विकसित गुणस्थान सिद्धान्त के सम्बन्ध में सर्वथा मौन हैं, जिससे यह फलित होता है कि निर्युक्तियों का रचनाकाल तत्त्वार्थसूत्र के सम-सामयिक (अर्थात् विक्रम की तीसरी-चौथी सदी) है। इस प्रकार निर्युक्ति छठीं शती से उत्तरार्द्ध में होने वाले नैमित्तिक भद्रबाहु की रचना तो किसी स्थिति में नहीं हो सकती।

५. निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में मूलाचार[७१] में उल्लेख तथा अस्वाध्याय काल में भी उनके अध्ययन का निर्देश यही सिद्ध करता है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व मूलाचार की रचना और यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आने के पूर्व का था। निश्चित रूप से ५वीं सदी के अन्त तक यापनीय सम्प्रदाय के अस्तित्व में आ जाने से निर्युक्तियाँ ५वीं सदी से पूर्व की रचनायें होनी चाहिए— ऐसी स्थिति में भी वे नैमित्तिक भद्रबाहु (वि. छठीं सदी उत्तरार्द्ध) की कृति नहीं मानी जा सकती हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने भी आवश्यक शब्द की निर्युक्ति करते हुए नियमसार गाथा १४२ में निर्युक्ति का उल्लेख किया है।[७२] आश्चर्य यह है कि यह गाथा मूलाचार के

षडावश्यक नामक अधिकार में यथावत् मिलती है। इससे भी यह फलित होता है कि निर्युक्तियाँ कम से कम नियमसार और मूलाचार की रचना के पूर्व अर्थात् छठीं शती के पूर्व अस्तित्व में आ गई थीं।

६. निर्युक्तियों के कर्ता नैमित्तिक भद्रबाहु नहीं हो सकते, क्योंकि आचार्य मल्लवादी (लगभग चौथी-पाचवीं शती) ने अपने ग्रन्थ 'नयचक्र' में निर्युक्तिगाथा का यह उद्धरण दिया है— निर्युक्ति — "वत्थूणं संकमणं होति अवत्थूणये समभिरूढे" जो इङ्गित करता है कि वलभी वाचना के पूर्व निर्युक्तियों की रचना हो चुकी थी।

७. पुनः वलभी वाचना के आगमों के गद्यभाग में निर्युक्तियों और सङ्ग्रहणी की अनेक गाथाएँ मिलती है, जैसे ज्ञाताधर्मकथा (मल्ली अध्ययन) में तीर्थङ्कर नाम-कर्म-बन्ध सम्बन्धी २० बोलों की गाथा मूलतः आवश्यकनिर्युक्ति (१७९-१८१) की गाथा है। इस प्रकार वलभी वाचना के समय निर्युक्तियों और सङ्ग्रहणीसूत्रों से अनेक गाथायें आगमों में डाली गई है। अतः निर्युक्तियाँ और सङ्ग्रहणियाँ वलभी वाचना की पूर्ववर्ती है।

८. निर्युक्तियों की सत्ता वलभी वाचना के पूर्व थी, तभी तो नन्दीसूत्र में आगमों की निर्युक्तियों का उल्लेख है। अगस्त्यसिंह की दशवैकालिकचूर्णि के उपलब्ध एवं प्रकाशित हो जाने पर भी यह बात पुष्ट हो जाती है कि आगमिक व्याख्या के रूप में निर्युक्तियाँ वलभी वाचना के पूर्व लिखी जाने लगी थी। इस चूर्णि में प्रथम अध्ययन की दशवैकालिकनिर्युक्ति की ५४ गाथाओं की भी चूर्णि की गई है। यह चूर्णि विक्रम की तीसरी-चौथी शती में रची गई थी। इससे यह तथ्य सिद्ध हो जाता है कि निर्युक्तियाँ भी लगभग तीसरी-चौथी शती की रचना है।

ज्ञातव्य है कि निर्युक्तियों में भी परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से प्रक्षेप हुआ है, क्योंकि अगस्त्यसिंहचूर्णि में दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की चूर्णि में मात्र ५४ निर्युक्ति गाथाओं की चूर्णि हुई है, जबकि वर्तमान में दशवैकालिकनिर्युक्ति में प्रथम अध्ययन की निर्युक्ति में १५१ गाथाएँ है।

इस सम्बन्ध में एक आपत्ति यह उठाई जा सकती है कि निर्युक्तियाँ वलभी वाचना के आगमपाठों के अनुरूप क्यों है? इसका प्रथम उत्तर तो यह है कि निर्युक्तियों का आगम पाठों से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनकी विषय-वस्तु से है और यह सत्य है कि विभिन्न वाचनाओं में चाहे कुछ पाठ-भेद रहे हों, किन्तु विषय-वस्तु में एकरूपता रही है और निर्युक्तियाँ मात्र विषय-वस्तु का विवरण देती हैं। पुनः निर्युक्तियाँ मात्र प्राचीन स्तर के और बहुत कुछ अपरिवर्तित रहे आगमों पर ही है सभी आगम ग्रन्थों पर नहीं। इन प्राचीन स्तर के आगमों का स्वरूप-निर्धारण

तो पहले ही हो चुका था। माथुरीवाचना या वलभी वाचना में उनमें बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। आज जो निर्युक्तियाँ हैं वे मात्र आचाराङ्ग, सूत्रकृताङ्ग, आवश्यक, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प एवं ऋषिभाषित की हैं। ये सभी ग्रन्थ विद्वानों की दृष्टि में प्राचीन स्तर के हैं और इनके स्वरूप में बहुत अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है। अत: वलभीवाचना से समरूपता के आधार पर निर्युक्तियों को उससे परवर्ती मानना उचित नहीं है।

उपर्युक्त समग्र चर्चा से यह फलित होता है कि निर्युक्तियों के कर्त्ता न तो चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु हैं और न वराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु। यह भी सुनिश्चित है कि निर्युक्तियों की रचना छेदसूत्रों की रचना के पश्चात् हुई है। साथ ही यह भी सत्य है कि निर्युक्तियों का अस्तित्व आगमों की देवर्द्धि वाचना के पूर्व था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की रचना के पूर्व आगमिक निर्युक्तियाँ अवश्य थीं। अत: यह अवधारणा भी भ्रान्त है कि निर्युक्तियाँ विक्रम की छठी सदी के उत्तरार्द्ध में निर्मित हुई हैं।

यदि निर्युक्तियों के कर्त्ता श्रुतकेवली चतुर्दश पूर्वधर प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु तथा वाराहमिहिर के भाई नैमित्तिक भद्रबाहु दोनों ही नहीं थे, तो फिर वे कौन से भद्रबाहु हैं जिनका नाम निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में माना जाता है। निर्युक्तिकर्त्ता के रूप में भद्रबाहु की अनुश्रुति जुड़ी होने से निर्युक्तियों का सम्बन्ध किसी 'भद्र' नाम व्यक्ति से अवश्य होना चाहिए और उनका अस्तित्व विक्रम की लगभग तीसरी-चौथी सदी के आस-पास होना चाहिए। नियमसार में आवश्यक की निर्युक्ति, मूलाचार में निर्युक्तियों के अस्वाध्याय काल में भी पढ़ने का निर्देश तथा उसमें और भगवती आराधना में निर्युक्तियों की अनेक गाथाओं की निर्युक्ति-गाथा के रूप में उल्लेखपूर्वक उपस्थिति यही सिद्ध करती है कि निर्युक्ति के कर्त्ता उस अविभक्त परम्परा के होने चाहिए जिससे श्वेताम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों का विकास हुआ है। कल्पसूत्र स्थविरावली में प्राप्त आचार्य परम्परा में महावीर परम्परा में प्राचीनगोत्रीय श्रुतकेवली भद्रबाहु के अतिरिक्त दो अन्य भद्र नामक आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है— १. आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्र, २. और आर्य कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र। संक्षेप में कल्पसूत्र की आचार्य परम्परा इस प्रकार है—

महावीर, गौतम, सुधर्मा, जम्बू, प्रभव, शय्यम्भव, यशोभद्र, सम्भूतिविजय, भद्रबाहु (चतुर्दशपूर्वधर), स्थूलिभद्र (ज्ञातव्य है कि भद्रबाहु एवं स्थूलिभद्र दोनों ही सम्भूतिविजय के शिष्य थे।), आर्य सुहस्ति, सुस्थित, इन्द्रदिन्न, आर्यदिन्न, आर्यसिंहगिरि, आर्यव्रज, आर्य वज्रसेन, आर्यरथ, आर्यपुष्पगिरि, आर्य फल्गुमित्र, आर्य धनगिरि, आर्यशिवभूति, आर्यभद्र (कायश्पगोत्रीय), आर्यकृष्ण, आर्यनक्षत्र, आर्यरक्षित, आर्यनाग,

आर्य ज्येष्ठिल, आर्यविष्णु, आर्यकालक, आर्यसम्पालित, आर्यभद्र (गौतमगोत्रीय), आर्यवृद्ध, आर्य सङ्घपालित, आर्यहस्ती, आर्यधर्म, आर्यसिंह, आर्यधर्म, षाण्डिल्य (सम्भवतः स्कन्दिल, जो माथुरी वाचना के वाचना प्रमुख थे) आदि। गाथाबद्ध स्थविरावली में इसके बाद जम्बू, नन्दिल, दुष्यगणि, स्थिरगुप्त, कुमारधर्म एवं देवर्द्धिक्षपकश्रमण के पाँच नाम और है।[७१]

ज्ञातव्य है कि नैमित्तिक भद्रबाहु (विक्रम की छठी शती के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न) का नाम इस सूची में सम्मिलित नहीं हो सकता है क्योंकि यह सूची वीर निर्वाण सं. ९८० अर्थात् सं. ५१० में अपना अन्तिम रूप ले चुकी थी।

इस स्थविरावली से जैन परम्परा में विक्रम की छठी शती के पूर्वार्ध तक होने वाले भद्र नामक तीन आचार्यों के नाम मिलते हैं— प्रथम, प्राचीनगोत्रीय आर्य भद्रबाहु, दूसरे आर्य शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्य भद्रगुप्त, तीसरे आर्य विष्णु के प्रशिष्य और आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र। वराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को लेकर यह संख्या चार हो जाती है। इस निष्कर्ष पर हम पहुँच चुके हैं कि इनमें से प्रथम एवं अन्तिम को तो निर्युक्तिकर्त्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अब शिवभूति के शिष्य आर्य भद्रगुप्त और आर्यकालक के शिष्य आर्यभद्र शेष बचते हैं। इनमें पहले हम आर्य धनगिरि के प्रशिष्य एवं आर्यशिवभूति के शिष्य आर्यभद्रगुप्त के निर्युक्तिकार होने की सम्भावना पर विचार करते हैं—

क्या आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं?

निर्युक्तियों को शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की रचना मानने के पक्ष में निम्न तर्क दिये जा सकते हैं—

१. निर्युक्तियाँ उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ सङ्घ से विकसित श्वेताम्बर एवं यापनीय दोनों सम्प्रदायों में मान्य रही हैं। यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में शताधिक निर्युक्ति गाथाएँ उद्धृत होने और उसमें अस्वाध्याय काल में निर्युक्तियों के अध्ययन करने का निर्देश होने से फलित होता है कि निर्युक्तियों की रचना मूलाचार से पूर्व हो चुकी थी।[७२] मूलाचार को छठीं सदी की रचना भी मानें तो उसके पूर्व निर्युक्तियाँ मूलरूप से अविभक्त धारा में निर्मित हुई थीं। चूँकि यापनीय सम्प्रदाय के रूप में परम्परा भेद तो शिवभूति के पश्चात् उनके शिष्यों कौडिन्य और कोट्टवीर से हुआ है अतः निर्युक्तियाँ शिवभूति के शिष्य भद्रगुप्त की रचना मानी जा सकती हैं, क्योंकि वे न केवल अविभक्त धारा में हुए, अपितु लगभग उसी काल में अर्थात् विक्रम की तीसरी शती में हुए हैं, जो कि निर्युक्ति का रचनाकाल है।

२. आचार्य भद्रगुप्त को उत्तर भारत की अचेल परम्परा का पूर्वपुरुष दो निम्न आधारों पर माना जा सकता है। प्रथम, कल्पसूत्र की पट्टावली के अनुसार आर्यभद्रगुप्त आर्यशिवभूति के शिष्य हैं। इसी शिवभूति का आर्यकृष्ण से मुनि की उपधि (वस्त्र-पात्र) के प्रश्न पर विवाद हुआ था और इन्होंने अचेलता का पक्ष लिया था। कल्पसूत्र स्थविरावली में आर्यकृष्ण और आर्यभद्र दोनों को आर्य शिवभूति का शिष्य कहा गया है। आर्यभद्र को आर्यवज्र एवं आर्यरक्षित के शिक्षक के रूप में में श्वेताम्बरों और शिवभूति के शिष्य के रूप में यापनीय परम्परा में मान्यता मिली है। आर्यशिवभूति के शिष्य होने के कारण आर्यभद्र भी अचेलता के पक्षधर होगें और इसलिए उनकी कृतियां यापनीय परम्परा में मान्य रही होगी।

३. विदिशा से प्राप्त एक अभिलेख में भद्रान्वय एवं आर्यकुल का उल्लेख है—

शमदमवान चीकरत् (।।) आचार्य - भद्रावन्यभूषणस्य
शिष्यो ह्यसावार्य्यकुलोद्गतस्य (।) आचार्य - गोश

(जै०शि०सं०, २, पृ० ५७)

सम्भावना यही है कि भद्रान्वय एवं आर्यकुल का विकास इन्हीं आर्यभद्र से हुआ हो। यहाँ के अन्य अभिलेखों में मुनि का 'पाणितलभोजी' यह विशेषण इङ्गित करता है कि केन्द्र अचेल धारा का था। पूर्वज आचार्य भद्र की कृति होने के कारण निर्युक्तियाँ यापनीयों में भी मान्य रही होगीं। परवर्ती एवं विकसित ओघनिर्युक्ति या पिण्डनिर्युक्ति में भी दो चार प्रसङ्गों के अतिरिक्त कहीं भी वस्त्र-पात्र का विशेष उल्लेख नहीं मिलता है। यह इस तथ्य का भी सूचक है कि निर्युक्तियों के काल तक वस्त्र-पात्र आदि का समर्थन उस रूप में नहीं किया जाता था, जिस रूप में परवर्ती श्वेताम्बर सम्प्रदाय में हुआ। वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्ति की मान्यता भगवतीआराधना एवं मूलाचार से अधिक दूर नहीं है। आचाराङ्गनिर्युक्ति में आचाराङ्ग 'वस्त्रैषणा' अध्ययन की निर्युक्ति केवल एक गाथा में है और 'पात्रैषणा' पर कोई निर्युक्ति गाथा ही नहीं है। अतः वस्त्र-पात्र के सम्बन्ध में निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्यभद्र की स्थिति भी मथुरा के साधु-साध्वियों के अङ्कन से अधिक भिन्न नहीं है। अतः निर्युक्तिकार के रूप में आर्य भद्रगुप्त को स्वीकार करने में निर्युक्तियों में वस्त्र-पात्र के उल्लेख अधिक बाधक नहीं है।

४. आर्यभद्र के निर्यापक (समाधिमरण कराने वाले) आर्यरक्षित माने जाते हैं। निर्युक्ति और चूर्णि दोनों के अनुसार आर्यरक्षित अचेलता के पक्षधर थे। उन्होंने प्रारम्भ में अचेल दीक्षा ग्रहण करना नहीं चाहने वाले अपने पिता को योजनापूर्वक

अचेल बना दिया था। चूर्णि में प्राप्त कटिपट्टक की बात श्वेताम्बर पक्ष की पुष्टि हेतु सम्मिलित की गयी प्रतीत होती है।

भद्रगुप्त को निर्युक्ति का कर्त्ता मानने के सम्बन्ध में निम्न कठिनाइयाँ हैं :—

१. आवश्यकनिर्युक्ति एवं आवश्यकचूर्णि के उल्लेखों के अनुसार आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक माने गये। आवश्यकनिर्युक्ति आर्यरक्षित की विस्तार से चर्चा करती है और आदरपूर्वक स्मरण करती है। भद्रगुप्त आर्यरक्षित से दीक्षा में ज्येष्ठ हैं, ऐसी स्थिति में उनके द्वारा रचित निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का उल्लेख इतने विस्तार से एवं इतने आदरपूर्वक नहीं आना चाहिए। यद्यपि परवर्ती उल्लेख एकमत से यह मानते हैं कि आर्यभद्रगुप्त की निर्यापना आर्यरक्षित ने करवायी, किन्तु मूल गाथा को देखने पर इस मान्यता के बारे में किसी को सन्देह भी हो सकता है, मूल गाथा निम्नानुसार है—

निज्जवण भद्दगुत्ते वीसुं पढणं च तस्स पुव्वगयं ।
पव्वाविओ य भाया रक्खिअखमणेहिं जणओ अ ।। – आवश्यकनिर्युक्ति, ७७६।

यहाँ "निज्जवण भद्दगुत्ते" में यदि "भद्दगुत्ते" को आर्ष प्रयोग मानकर कोई प्रथमाविभक्ति में समझे तो इस गाथा के प्रथम दो चरणों का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है— भद्रगुप्त ने आर्यरक्षित की निर्यापना की और उनसे समस्त पूर्वगत साहित्य का अध्ययन किया।

गाथा के उपरोक्त अर्थ को स्वीकार करने पर निर्युक्तियों में आर्यरक्षित का बहुमान पूर्वक उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं है, क्योंकि जिस व्यक्ति ने आर्यरक्षित की निर्यापना करवायी हो और जिनसे पूर्वों का अध्ययन किया वह उनका अपनी कृति में सम्मानपूर्वक उल्लेख करेगा ही। किन्तु गाथा का इस दृष्टि से किया गया अर्थ चूर्णि में प्राप्त कथानकों के साथ एवं निर्युक्ति गाथाओं के पूर्वापर प्रसङ्ग को देखते हुए किसी भी प्रकार सङ्गत नहीं माना जा सकता है। चूर्णि में तो यही कहा गया है कि आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना करवायी और आर्यवज्र से पूर्वसाहित्य का अध्ययन किया। यहाँ दूसरे चरण में प्रयुक्त "तस्स" शब्द का सम्बन्ध आर्यवज्र से है, जिनका उल्लेख पूर्व गाथाओं में किया गया है। साथ ही यहाँ 'भद्दगुत्ते' में सप्तमी का प्रयोग है, जो एक कार्य को समाप्त कर दूसरा कार्य प्रारम्भ करने की स्थिति में किया जाता है। यहाँ सम्पूर्ण गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा— आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना (समाधिमरण) करवाने के पश्चात् (आर्यवज्र से) समस्त पूर्वों का अध्ययन किया है और अपने भाई और पिता को दीक्षित किया। यदि आर्यरक्षित भद्रगुप्त के निर्यापक हैं और वे ही निर्युक्तियों के कर्त्ता भी हैं, तो फिर निर्युक्तियों में

आर्यरक्षित द्वारा उनका निर्यापन करवाने के बाद किये गये कार्यों का उल्लेख नहीं होना था। किन्तु ऐसा उल्लेख है, अतः निर्युक्तियाँ काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त की कृति नहीं हो सकती हैं।

२. एक दूसरी कठिनाई यह भी है कि कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्यवज्र के पश्चात् आठवीं पीढ़ी में आर्यरक्षित हुए हैं। अतः यह सम्भव नहीं है कि अपने से आठ पीढ़ी पूर्व उत्पन्न आर्यवज्र से पूर्वों का अध्ययन किया गया हो। इससे कल्पसूत्र स्थविरावली में दिये गये क्रम में सन्देह होता है, हालाँकि कल्पसूत्र स्थविरावली एवं अन्य स्रोतों से इतना तो निश्चित होता है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित से पूर्व में हुए हैं। उसके अनुसार आर्यरक्षित आर्यभद्रगुप्त के प्रशिष्य हैं। कथानकों में आर्यरक्षित को तोषलिपुत्र का शिष्य कहा गया है। हो सकता है कि तोषलिपुत्र आर्यभद्रगुप्त के शिष्य रहे हों। स्थविरावली में उल्लिखित है कि आर्यभद्र के शिष्य आर्यरक्षित थे। इसप्रकार इतना निश्चित है कि आर्यभद्र आर्यरक्षित के पूर्ववर्ती या ज्येष्ठ समकालिक हैं। ऐसी स्थिति में यदि निर्युक्तियाँ आर्यभद्रगुप्त के समाधिमरण के पश्चात् की आर्यरक्षित के जीवन की घटनाओं का विवरण देती हैं, तो उन्हें शिवभूति के शिष्य काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त की कृति नहीं माना जा सकता।

आर्यभद्र को निर्युक्ति के कर्त्ता के रूप में स्वीकार करने पर आर्यरक्षित, अन्तिम निह्नव एवं बोटिकों का उल्लेख करने वाली निर्युक्ति गाथाओं को प्रक्षिप्त मानना अपरिहार्य हो जायगा। आर्यरक्षित को आर्यभद्रगुप्त का निर्यापक स्वीकार करें तो आर्यभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण सं० ५६० के आस-पास मानना होगा। इसके दो आधार हैं। प्रथम तो आर्यरक्षित ने भद्रगुप्त की निर्यापना अपने युवावस्था में ही करवायी थी और दूसरे तब वीर निर्वाण सं० ५८४ (विक्रम की द्वितीय शताब्दी) में स्वर्गवासी होने वाले आर्यवज्र जीवित थे। ऐसी स्थिति में निर्युक्तियों में अन्तिम निह्नव का कथन भी सम्भव नहीं प्रतीत होता क्योंकि अबद्धिक नामक सातवाँ निह्नव वीरनिर्वाण के ५८४ वर्ष पश्चात् हुआ है। अतः आर्यरक्षित सम्बन्धी ही नहीं अपितु अन्तिम निह्नव एवं बोटिकों सम्बन्धी विवरण भी निर्युक्तियों में प्रक्षिप्त मानना होगा। ऐसा न मानने पर काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त निर्युक्तियों के कर्त्ता भी नहीं हो सकते हैं। निष्कर्षतः अन्य किसी भद्र नामक आचार्य की खोज करनी होगी।

क्या गौतमगोत्रीय आर्यभद्र निर्युक्तियों के कर्त्ता हैं?

काश्यपगोत्रीय भद्रगुप्त के पश्चात् कल्पसूत्र पट्टावलि में गौतमगोत्रीय आर्यकालक के शिष्य और आर्य सम्पालित के गुरुभाई आर्यभद्र का भी उल्लेख मिलता है।[१] आर्यभद्र आर्यविष्णु के प्रशिष्य एवं आर्यकालक के शिष्य हैं। इनके शिष्य के रूप

में आर्य वृद्ध का उल्लेख है। यदि आर्यवृद्ध को वृद्धवादी से समीकृत करें तो आर्यभद्र सिद्धसेन के दादा गुरु सिद्ध होते हैं। विचारणीय है क्या आर्यभद्र भी स्पष्ट सङ्घ-भेद अर्थात् श्वेताम्बर, यापनीय और दिगम्बर सम्प्रदायों के नामकरण के पूर्व हुए हैं। निर्युक्तियाँ यापनीय और श्वेताम्बर दोनों में मान्य होने से यह सुनिश्चित है कि सम्प्रदाय-भेद के पश्चात् का कोई भी आचार्य निर्युक्तियों का कर्त्ता नहीं हो सकता। यदि वे किसी सम्प्रदाय विशेष की कृति होतीं तो अन्य सम्प्रदाय उसे मान्य नहीं करता। यदि आर्य विष्णु को दिगम्बर पट्टावली में उल्लिखित आर्य विष्णु से समीकृत करें तो इनकी निकटता अचेल परम्परा से स्थापित की जा सकती है। दूसरे, विदिशा के अभिलेख में उल्लेखित भद्रान्वय एवं आर्यकुल का सम्बन्ध इन गौतमगोत्रीय आर्यभद्र से भी माना जा सकता है क्योंकि इसका काल भी स्पष्ट सम्प्रदाय-भेद एवं उस अभिलेख के पूर्व है। दुर्भाग्य से इनके सन्दर्भ में आगमिक व्याख्या साहित्य में कहीं कोई विवरण नहीं मिलता, केवल नाम-साम्य के आधार पर इनके निर्युक्तिकार होने की सम्भावना व्यक्त कर सकते हैं।

इनकी विद्वत्ता एवं योग्यता के सम्बन्ध में भी आगमिक उल्लेखों का अभाव है, किन्तु वृद्धवादी जैसे शिष्य और सिद्धसेन जैसे प्रशिष्य के गुरु विद्वान् अवश्य रहे होंगे, इसमें शङ्का नहीं की जा सकती। इनके प्रशिष्य सिद्धसेन का आदरपूर्वक उल्लेख दिगम्बर और यापनीय आचार्य भी करते हैं, अत: इनकी कृतियों को उत्तर भारत की अचेल परम्परा में मान्यता मिली हो ऐसा माना जा सकता है। ये आर्यरक्षित से पाँचवीं पीढ़ी में माने गये हैं। अत: इनका काल इनके सौ-डेढ़ सौ वर्ष पश्चात् ही होगा अर्थात् ये भी विक्रम की तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध या चौथी के पूर्वार्द्ध में कभी हुए होंगे। लगभग यही काल माथुरीवाचना का भी है। चूंकि माथुरीवाचना यापनीयों को भी स्वीकृत रही है, इसलिए इन कालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने में काल एवं परम्परा की दृष्टि से कठिनाई नहीं है।

यापनीय और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में निर्युक्तियों की मान्यता पर भी इससे कोई बाधा नहीं आती, क्योंकि ये आर्यभद्र, आर्य नक्षत्र एवं आर्य विष्णु के ही परम्परा शिष्य हैं। सम्भव है कि दिगम्बर परम्परा के आर्यनक्षत्र और आर्यविष्णु की परम्परा में उद्धृत जिस भद्रबाहु के दक्षिण में जाने का उल्लेख मिलता है और जिनसे अचेल धारा में भद्रान्वय और आर्यकुल का आविर्भाव हुआ हो वे यही आर्यभद्र हों। इन्हें निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने पर नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र में निर्युक्तियों का उल्लेख होना भी युक्तिसङ्गत सिद्ध हो जाता है।

अत: हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निर्युक्तियों के कर्त्ता आर्य नक्षत्र की परम्परा में हुए आर्य विष्णु के प्रशिष्य एवं आर्य सम्पालित के गुरुभ्राता गौतमगोत्रीय आर्यभद्र ही हैं। यद्यपि मैं इस निष्कर्ष को अन्तिम न मानकर इतना अवश्य कहूँगा कि इन आर्यभद्र को निर्युक्ति का कर्त्ता स्वीकार करने पर प्राचीनगोत्रीय पूर्वधर भद्रबाहु, काश्यपगोत्रीय आर्यभद्रगुप्त और वाराहमिहिर के भ्राता नैमित्तिक भद्रबाहु को निर्युक्तियों का कर्त्ता मानने पर आने वाली अनेक विप्रतिपत्तियों से बच सकते हैं। दुर्भाग्य यह है कि अचेलधारा में निर्युक्तियाँ संरक्षित नहीं रह सकीं, मात्र भगवती आराधना, मूलाचार और कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में उनकी कुछ गाथायें ही अवशिष्ट हैं। इनमें भी मात्र मूलाचार ही लगभग सौ निर्युक्ति गाथाओं का निर्युक्ति गाथा के रूप में उल्लेख करता है। दूसरी ओर सचेल धारा में उपलब्ध निर्युक्तियों में अनेक भाष्यगाथाएँ मिश्रित हो गई हैं। इसकारण उपलब्ध निर्युक्तियों में भाष्य गाथाओं एवं प्रक्षिप्त गाथाओं को अलग करना एक कठिन कार्य हो गया है, किन्तु यदि एक बार निर्युक्तियों के रचनाकाल, उसके कर्त्ता तथा उनकी परम्परा का निर्धारण हो जाय, तो यह कार्य सरल हो सकता है।

आशा है जैन विद्या के निष्पक्ष विद्वानों की अगली पीढ़ी इस दिशा में और भी अन्वेषण कर निर्युक्ति साहित्य सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करेगी। प्रस्तुत लेखन में मुनि श्री पुण्यविजयजी का आलेख मेरा उपजीव्य रहा है। आचार्य हस्तीमल जी ने 'जैनधर्म के मौलिक इतिहास' के लेखन में भी उसी का अनुसरण किया है। मैं उक्त दोनों मनीषियों के निष्कर्षों से सहमत नहीं हो सका। यापनीय सम्प्रदाय पर ग्रन्थ-लेखन के समय कुछ नई समस्यायें और समाधान दृष्टिगत हुए। इन्हीं के प्रकाश में मैंने कुछ नवीन स्थापनायें प्रस्तुत की हैं, ये सत्य के कितनी निकट हैं, यह विचार करना विद्वानों का कार्य है। मैं अपने निष्कर्षों को अन्तिम सत्य नहीं मानता हूँ, अत: सदैव उनके विचारों एवं समीक्षाओं से लाभान्वित होने का प्रयास करूँगा।

●

सन्दर्भ :

१ अ. निज्जुत्ता ते अत्था, जं बद्धा तेण होइ णिज्जुत्ती ।
— आवश्यकनिर्युक्ति (लाखाबावल), गाथा ८८।

ब. सूत्रार्थयो: परस्परनियोंजनं सम्बन्धनं निर्युक्ति:
— आवश्यकनिर्युक्तिटीका हरिभद्र, गाथा ८३ की टीका।

२. अत्थाणं उग्गहणं अवग्गहं तह विआलणं इहं।

— आवश्यकनिर्युक्ति (लाखाबावल) ३।

३. ईहा अपोह वीमंसा, मग्गणा य गवेसणा ।
सण्ण सई मई पण्णा सव्वं आभिनिबोहियं ।।

— आवश्यकनिर्युक्ति, वही, १२।

४. आवस्सगस्स दसकालिअस्स तह उत्तरज्झमायारे ।
सूयगडे निज्जुत्तिं वुच्छामि तहा दसाणं च ।।
कप्पस्स य निज्जुत्तिं ववहारस्सेव परमणिपुणस्स ।
सूरिअपण्णत्तीए वुच्छं इसिभासियाणं च ।।

— आवश्यकनिर्युक्ति, वही ८४-८५।

५. इसिभासियाइं, भूमिका, प्रो० सागरमल जैन, (प्राकृत भारती, जयपुर), पृ० ९३।

६. बृहत्कथाकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला), प्रस्तावना, ए०एन० उपाध्ये, पृ० ३१।

७. आराधना....तस्या निर्युक्तिराधनानिर्युक्तिः। — मूलाचार, पञ्चाचाराधिकार, गा० २७९ की टीका (भारतीय ज्ञानपीठ, १९८४)।

८. गोविंदाणं पि नमो अणुओगे विउलधारणिंदाणं।

— नन्दीसूत्र स्थविरावली, गा० ४१।

९. व्यवहारभाष्य, भाग ६, गा० २६७-२६८।

१०. सो य हेउगोवएसो गोविंदनिज्जुत्तिमादितो... ।
दरिसणप्पभावगाणि सत्थाणि जहा गोविंदनिज्जुत्तिमादी ।

— आवश्यकचूर्णि, भाग १, पृ० ३५३, भाग २, पृ० २०१, ३२२।

११. गोविंदो.... पच्छातेण एगिंदिय जीव साहणं गोविंद निज्जुतिकया ।

— निशीथभाष्य गाथा ३६५६, निशीथचूर्णि, भाग ३, पृ० २६०।

१२. नन्दीसूत्र, (ब्यावर) स्थविरावली गाथा ४१।

१३अ. प्राकृतसाहित्य का इतिहास, डॉ० जगदीश चन्द्र जैन, पृ० १९० ।

ब. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३, डॉ० मोहनलाल मेहता, पृ० ६।

१४. आवश्यकनिर्युक्ति (लाखाबावल), गाथा ८४-८५।

१५. वही, गाथा ८४।

१६. बहुरय पएस अव्वत्तसमुच्छादुगतिग अबद्धिया चेव ।
सत्तेए णिण्हगा खलु तित्थंमि उ वद्धमाणस्स ।।

बहुर जमालिपभवा जीवपएसा ये तीसगुत्ताओ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ।।
गंगाओ दोकिरिया छलुगा तरासियाण उप्पत्ती।
थेराय गोट्ठमाहिल पुट्ठमबद्धं परूविंति ।।
सावत्थी उसभपुरं सेयविया मिहिल उल्लुगातीरं।
पुरिमंतरंजि दसपुर-रहवीरपुरं च नगराइं ।।
चोद्दस सोलस वासा चोद्दसवीसुत्तरा य दोण्णि सया।
अट्ठावीसा य दुवे पंचेव सया उ चोयाला ।।
पंच सया चुलसीया छच्चेव सया णवोत्तरा होंति।
णाणुपत्तीय दुवे उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ।।
एवं एए कहिया ओसप्पिणीए उ निण्हवा सत्त।
वीरवरस्स पवयणे सेसाणं पव्वयणे णत्थि ।।

— आवश्यकनिर्युक्तिगाथा ७७८-७८४।

१७. बहुरय जमालिपभवा जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ।।
गंगाए दोकिरिया छलुगा तेरासिआण उप्पत्ती ।
थेरा य गुट्ठमाहिल पुट्ठबद्धं परूविंति ।।
जिट्ठा सुदंसण जमालि अणुज्ज सावत्थि तिंदुगुज्जाणे ।
पंच सया य सहस्सं ढंकेण जमालि मुत्तूणं ।।
रायगिहे गुणसिलए वसु चउदसपुव्वि तीसगुत्ताओ ।
आमलकप्पा नयरि मित्तसिरी कूरपिंडादि ।।
सियवियपोलासाढे जोगे तद्दिवसहिययसूले य ।
सोहम्मि नलिणगुम्मे रायगिहे पुरिय बलभद्दे ।।
मिहिलाए लच्छिघरे महगिरि कोडिन्न आसमित्तो य ।
णेउणमणुप्पवाए रायगिहे खंडरक्खा य ।।
नइखेडजणव उल्लग महगिरि धणगुत्त अज्जगंगे य ।
किरिया दो रायगिहे महातवो तीरमणिनाए ।।
पुरिमंतरंजि भयुगुह बलसिरि सिरिगुत्त रोहगुत्ते य ।
परिवाय पुट्ठसाले घोसण पडिसेहणा वाए ।।

विच्छुय सप्पे मूसग मिगी वराही य कागि पोयाइं ।
एयाहिं विज्जाहिं सो उ परिव्वायगो कुसलो ।।
मोरिय नउलि बिराली वग्घी सीही य उलुगि ओवाइ।
एयाओ विज्जाओ गिण्ह परिव्वायमहणीओ ।।
दसपुरनगरुच्छुघरे अज्जरक्खिय पुसमित्ततियगं च ।
गुट्ठामहिल नव अट्ठ सेसपुच्छा य विझस्स ।।
पुट्ठो जहा अबद्धो कंचुइणं कंचुओ समन्नेइ ।
एवं पुट्ठमबद्धं जीवं कम्मं समन्नेइ ।।
पच्चक्खाणं सेयं अपरिमाणेण होइ कायव्वं ।
जेसिं तु परीमाणं तं दुट्ठं होइ आसंसा ।।
रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ ।
सिवभूइस्सुवहिंमि पुच्छा थेराण कहणा य ।।

—उत्तराध्ययननिर्युक्ति, १६५-१७८।

१८. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २९।
१९. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३०९-३२६।
२०. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २०७।
२१. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १६१-१६३।
२२. आचाराङ्गनिर्युक्ति, गाथा ५।
२३अ. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ७९-८८।
ब. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १४३-१४४।
२४. जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुत्ति पगयं तु भावेणं ।
देसविमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ।।

— आचाराङ्गनिर्युक्ति, ३३१।

२५. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ४८७-९२।
२६. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा ९९।
२७. दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ३।
२८. सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा १२७।
२९. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा २६७-२६८।

३०. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गाथा १।

३१. तहवि य कोई अत्थो उप्पजति तंमि तंमि समयंमि ।
पुव्वभणिओ अणुमतो अ होइ इसिभासिएसु जहा ।।
— सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा १८९।

३२क. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठ विभाग, आत्मानन्द जैन सभा भावनगर, प्रस्तावना, पृ॰४,५।

३३. वही, आमुख, पृ॰ २।

३४क. मूढणइयं सुयं कालियं तु ण णया समोयरंति इहं ।
अपुहुत्ते समोयारो, नत्थि पुहुत्ते समोयारो ।।
जावंति अज्जवइरा, अपुहुत्तं कालियाणुओगे य ।
तेणाऽऽरेण पुहुत्तं, कालियसुय दिट्ठिवाए य ।।
— आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७६२-७६३।

ख. तुंबवणसन्निवेसाओ, निग्गयं पिठसगासमल्लीणं ।
छम्मासियं छसु जयं, माऊय समन्नियं वंदे ।।
जो गुज्झएहिं बालो, निमंतिओ भोयणेण वासंते ।
णेच्छइ विणीयविणओ, तं वइररिसिं णमंसामि ।।
उज्जेणीए जो जंभगेहिं आणक्खिऊण थुयमहिओ ।
अक्खीणमहाणसियं सीहगिरिपसंसियं वंदे ।।
जस्स अणुण्णाए वायगत्तणे दसपुरम्मि णयरम्मि ।
देवेहिं कया महिमा, पयाणुसारिं णमंसामि ।।
जो कन्नाइ धणेण य, णिमंतिओ जुव्वणम्मि गिहवइणा।
नयरम्मि कुसुमनामे, तं बइररिसिं णमंसामि ।।
जणुद्धारआ विज्जा, आगासगमा महारिण्णाओ ।
वंदामि अज्जवइरं, अपच्छिमो जो सुयहराणं ।।
— वही, गाथा ७६४-७६९।

ग. अपुहुत्ते अणुओगो, चत्तारि दुवार भासई एगो ।
पुहुताणुओगकरणे, ते अत्थ तओ उ वोच्छिन्ना ।।
देविंदवंदिएहिं, महाणुभागेहिं रक्खिअज्जेहिं ।
जुगुमासज्ज विभत्तो, अणुओगो तो कओ चउहा ।।

माया य रुद्दसोमा, पिया य नामेण सोमदेव त्ति ।
भाया य फग्गुरक्खिय, तोसलिपुत्ता य आयरिआ ।।
णिज्जवणभद्दगुत्ते, वीसं पढणं च तस्स पुव्वगयं ।
पव्वविओ य भाया, रक्खिअखमणेहिं जणओ य ।।

— वही, गाथा ७७३-७७६।

३५. जह जह पएसिणी जाणुगम्मि पालित्तओ भमाडेइ ।
तह तह सीसे वियणा, पणस्सइ मुरुंडरायस्स ।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

— पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ४९८।

३६. नइ कण्ह-विन्न दीवे, पंचसया तावसाण णिवसंति ।
पव्वदिवसेसु कुलवइ, पालेवुत्तार सक्कारे ।।
जण सावगाण खिंसण, समियक्खण माइठाण लेवेण ।
सावय पयत्तकरणं, अविणय लोए चलण धोए ।
पडिलाभिय वच्चंता, निव्वुड्ड नइकूलमिलण समियाओ ।
विम्हिय पंच सया तावसाण पव्वज्ज साहा य ।।

— पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ५०३-५०५

३७अ. वही, गाथा ५०५।

ब. नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा ३६।

स. मथुरा के अभिलेखों में इस शाखा का उल्लेख ब्रह्मदासिक शाखा के रूप में मिलता है।

३८. उज्जेणी कालखमणा सागरखमणा सुवण्णभूमीए ।
इंदो आउयसेयं, पुच्छइ सादिव्वकरणं च ।।

— उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा ११९

३९. अरहंते वंदित्ता चउदसपुव्वी तहेव दसपुव्वी ।
एक्कारसंगसुत्तत्थधारए सव्वसाहू य ।। — ओघनिर्युक्ति, गाथा १

४०. ओघनिर्युक्ति सम्पा० विजयसूरीश्वर, जैन ग्रन्थमाला, गोपीपुरा, सूरत, पृष्ठ ३-४।

४१. जेणुद्धरिया विज्जा आगासगमा महापरिन्नाओ ।
वंदामि अज्जवइरं अपच्छिमो जो सुअहराणं ।।

— आवश्यकनिर्युक्तिगाथा, ७६९।

४२. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७६३-७७४।

४३. अपुहुत्तपुहुत्ताइं निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो ।
चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति ।।
— दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ४

४४. ओहेण उ निज्जुत्तिं वुच्छं चरणकरणाणुओगाओ ।
अप्पक्खरं महत्थं अणुग्गहत्थं सुविहियाणं ।।
— ओघनिर्युक्ति, गाथा २।

४५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ७७८-७८३।

४६. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १६४-१७८।

४७. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।
एते तिन्निव देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स ।।
— सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति,गाथा १४६।

४८. उत्तराध्ययन टीका शान्त्याचार्य, उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम् भाष्य, षष्ठ विभाग प्रस्तावना, पृ० १२।

४९. वही, पृ० ९।

५०. बृहत्कल्पसूत्र भाष्य, षष्ठविभाग, आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर, पृ०११।

५१. साव[1]त्थी उसभ[2]पुर सेय[3]विया मिहिल[4]उल्लुगातीरं[5] ।
पुदिमंत[6]रजि दस[7]पुरं रहवीर[8]पुर च नगराइं ।।
चोद्द[1]स सोल[2]स वासा चोद्दसवीसु[3]त्तरा[4]दोण्णि सया ।
अट्ठावीसो[5]या दुवे पंचेव सया[6]उ चोयाला ।।
— आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ८१-८२

५२. रहवीरपुरं नयरं दीवगमुज्जाण अज्जकण्हे अ ।
सिवभूइस्सुवहिंमि पुच्छा थोराण कहणा य ।।
— उत्तराध्ययननिर्युक्ति, गाथा १७८।

५३. स्वयं चतुर्दशपूर्वित्वेऽपि यच्चतुर्दशपूर्व्युपादानं तत् तेषामपि षट्स्थानपतितत्वेन शेषमाहात्म्यस्थापनपरमदुष्टमेव, भाष्यगाथा वा द्वारगाथाद्वयादारभ्य लक्ष्यन्त इति प्रेर्यानवकाश एवेति।। — उत्तराध्ययनटीका, शान्त्याचार्य,गाथा २३३।

५४. एगभविए य बद्धाउए य अभिमुहियनामगोए य ।
एते तिन्निवि देसा दव्वंमि य पोंडरीयस्स ।। — सूत्रकृताङ्गनिर्युक्ति, गाथा१४६

५५. ये चादेशाः यथा— आर्यमङ्गुराचार्यस्त्रिविधं शङ्खमिच्छति- एकभविकं बद्धायुष्कमभिमुखनामगोत्रं च, आर्यसमुद्रो द्विविधम् - बद्धायुष्कमभिमुख- नामगोत्रं च, आर्यसुहस्ती एकम् - अभिमुखनाम गोत्रमितिः ।

— बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य भाग-१, गाथा १४४।

५६. वही, षष्ठविभाग, पृ॰ १५-१७।

५७. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५२-१२६०।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

५८. वही, गाथा ८५।

५९. जत्थ य जो पण्णवओ कस्सवि साहइ दिसासु य णिमित्तं ।
जत्तोमुहो य ढाई सा पुव्वा पच्छवो अवरा ।।

— आचाराङ्गनिर्युक्ति, गाथा५१।

६०. सप्ताश्विवेदसंख्य, शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ ।
अर्धास्तमिते भानौ, यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये ।।

— पञ्चसिद्धान्तिका, उद्धृत बृहत्कल्पसूत्रम्, भाष्य, षष्ठविभाग, प्रस्तावना पृ॰१७।

६१. बृहत्कल्पसूत्रम्, षष्ठविभाग, प्रस्तावना, पृष्ठ १८।

६२. गोविंदो नाम भिक्खू...
पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणं गोविंदनिज्जुत्ती कया।। एस नाणतेणो ।।

— निशीथचूर्णि, भाग ३, उद्देशक ११, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, पृ॰ २६०।

६३अ. गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं ।
णिच्चं खंतिदयाणं परूवणे दुलभिंदाणं ।।—नन्दीसूत्र, गाथा८१।

ब. आर्य स्कन्दिल
↓
आर्य हिमवंत
↓
आर्य नागार्जुन
↓
आर्य गोविन्द

— देखें, नन्दीसूत्र स्थविरावली, गाथा ३६-४१।

६४. पच्छा तेण एगिंदियजीवसाहणं गोविंदणिज्जुत्ती कया। एस णाणा तेणो। एव दंसणपभावगसत्थट्ठा । — निशीथचूर्णि, पृ० २६०।

६५. निण्हयाण वत्तव्वया भाणियव्वा जहा सामाइयनिज्जुत्तीए ।
— उत्तराध्ययनचूर्णि, जिनदासगणिमहत्तर, वि०सं०, १९८९, पृ० ९५।

६६. इदाणिं एतेसिं कालो भण्णति 'चउद्दस सोलस वीसा' गाहाउ दो, इदाणिं भण्णति- 'चोद्दस वासा तइया' गाथा अक्खाणयसंगहणी। — वही, पृ० ९५।

६७. मिच्छदिट्ठीसासायणे य तह सम्ममिच्छदिट्ठी य ।
अविरयसम्मद्दिट्ठी विरयाविरए पमत्ते य ।।
तत्तो य अप्पमत्तो नियट्टि अनियट्टि बायरे सुहुमे ।
उवसंत खीणमोहे होइ सजोगी अजोगी य ।।
— आवश्यकनिर्युक्ति, (निर्युक्तिसङ्ग्रह, पृ० १४०)।

६८. आवश्यकनिर्युक्ति (हरिभद्र) भाग २, भेरूलाल कन्हैया लाल कोठारी धार्मिक ट्रस्ट, मुम्बई, वीर सं० २५०८, पृ० १०६-१०७।

६९. सम्मत्तुपत्ती सावए य विरए अणंतकम्मसे ।
दंसणमोहक्खवए उवसामंते य उवसते ।।
खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्जा ।
तव्विवरीओ कालो संखज्जुगुणाइ सेढीए ।।
— आचाराङ्गनिर्युक्ति, गाथा २२२-२२३।

७०. सम्यग्दृष्टिश्रावकविरतानन्तवियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तामेहक्षपकक्षीण मोहजिनाः क्रमशोऽसंङ्ख्येयगुणनिर्जराः ।।
— तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति) सुखलाल संघवी, ९/४७।

७१अ. णिज्जुत्ती णिज्जुत्ती एसा कहिदा मए समासेण ।
अह वित्थार पंसगोऽणियोगदो होदि णादव्वो ।।
आवासगणिज्जुत्ती एवं कधिदा समासओ विहिणा ।
णो उवजुंजदि णिच्चं सो सिद्धिं, जादि विसुद्धप्पा ।।
— मूलाचार (भारतीय ज्ञानपीठ) ६९१-६९२

...एसो अण्णे गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ।
आराहणा णिज्जुत्ति मरणविभत्ती य संगहत्थुदिओ।
पच्चक्खाणावसय धम्मकहाओ एरिस ओ।।
—मूलाचार, २७८-२७९।

ब. ण वसो अवसो अवसस्सकम्मावस्सयंति बोधव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअंति ण णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ।। — वही, ५१५।

७२. ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सयं ति बोधव्वा ।
जुत्ति त्ति उवाअंति ण णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती ।।
— नियमसार, गाथा १४२, लखनऊ, १९३१

७३. देखें— कल्पसूत्र, स्थविरावली विभाग ।

७४. देखें— मूलाचार, षडावश्यक-अधिकार ।

७५. थेरस्स णं अज्ज विन्हुस्स माढरस्सगुत्तस्स अज्जकालए थेरे अंतेवासी गोयमसगुत्ते थेरस्सणं अज्जकालस्स गोयमसगुत्तस्स इमे दुवे थेरा अंतेवासी गोयमसगुत्ते अज्ज संपलिए थेरे अज्जभद्दे, एएसि दुन्हवि गोयमसगुत्ताणं अज्ज बुड्ढे थेरे।
— कल्पसूत्र (मुनि प्यारचन्दजी, रतलाम) स्थविरावली, पृ॰ २३३।

●

प्रथम अध्याय

छेदसूत्रागम और दशाश्रुतस्कन्ध

वर्तमान समय में उपलब्ध जैन आगम साहित्य अङ्ग, उपाङ्ग, मूलसूत्र, छेदसूत्र, प्रकीर्णक और चूलिका सूत्र में वर्गीकृत है। इस वर्गीकरण के अनुसार ग्यारह अङ्ग, बारह उपाङ्ग, चार मूलसूत्र, छः छेदसूत्र, दस प्रकीर्णक और दो चूलिका सूत्र हैं। पैंतालीस आगमों की यह मान्यता श्वेताम्बरों के मूर्तिपूजक सम्प्रदाय से सम्बद्ध है। दिगम्बर परम्परा आगमों का सर्वथा विच्छेद मानती है। **धवला**[1] के अनुसार दिगम्बरों में किसी समय बारह अङ्ग और चौदह अङ्गबाह्य अर्थात २६ आगमों की मान्यता थी।[1] पैंतालीस आगमों के नाम इसप्रकार हैं[2]—

अङ्ग

१. आयारो (आचाराङ्ग), २. सूयगड (सूत्रकृताङ्ग), ३. ठाण (स्थानाङ्ग), ४. समवाय (समवायाङ्ग), ५. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती), ६. नायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथाः), ७. उवासगदसाओ (उपासकदशाः), ८. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशाः), ९. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशाः), १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्) १२. और दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद), जो विच्छिन्न माना जाता है।

उपाङ्ग

१. उववाइयं (औपपातिकं), २. रायपसेणइजं (राजप्रसेनजित्कं), अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीयं), ३. जीवाजीवाभिगम, ४. पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५. सूरपण्णत्ति (सूर्यप्रज्ञप्ति), ६. जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), ७. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८-१२ निरयावलियासुयक्खंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध), ८. निरयावलियाओ (निरयावलिकाः), ९. कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिकाः), १०. पुप्फियाओ (पुष्पिकाः), ११. पुप्फचूलाओ (पुष्पचूलाः), १२. और वण्हिदसाओ (वृष्णिदशाः)।

मूलसूत्र

१. उत्तराध्ययन, २. दशवैकालिक, ३. आवश्यक, ४. और पिण्डनिर्युक्ति— ये चार मूलसूत्र माने गये हैं।

छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में— १. आयारदसा (दशाश्रुतस्कन्ध), २. कप्प (कल्प), ३. ववहार (व्यवहार), ४. निसीह (निशीथ), ५. महानिसीह (महानिशीथ), ६. और जीयकप्प (जीतकल्प) — ये छः ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं—

१. चउसरण (चतुःशरण), २. आउरपच्चक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३. भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४. संथारय (संस्तारक), ५. तंदुलवेयालिय (तन्दुलवैचारिक), ६. चंदवेज्झय (चन्द्रवेध्यक), ७. देविंदत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८. गणिविज्जा (गणिविद्या), ९. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) १०. और वीरत्थय (वीरस्तव)।

चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार—ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय की स्थानकवासी एवं तेरापन्थी परम्परा ४५ में से दस प्रकीर्णकों के अतिरिक्त जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति को छोड़कर केवल ३२ ग्रन्थों को मानती है। कुछ लोग आगमों की संख्या ८४ मानते है। उनकी दृष्टि में प्रकीर्णकों की संख्या दस के स्थान पर ३० है। वे ४५ ग्रन्थों के साथ निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्राद्धजीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दित्तुसूत्र, तिथिप्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

आगम-प्रणयन

परम्परागत रूप से आगम जिनवाणी हैं और वर्तमान आगम महावीर के उपदेश हैं। कहा जाता है कि महावीर ने जो उपदेश दिया उसे गणधरों ने सूत्रबद्ध किया है। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थरूप शास्त्र के कर्त्ता महावीर माने जाते हैं और शब्दरूप शास्त्र के कर्त्ता गणधर हैं। परन्तु वास्तव में यह तथ्य केवल अङ्गों के विषय में ही प्रासङ्गिक है। अङ्गों के अतिरिक्त आगम की क्रमशः हुई संख्या वृद्धि के सम्बन्ध में पद्मभूषण पं॰दलसुख भाई मालवणिया[1] का अभिमत उल्लेखनीय है। उनके अनुसार "गणधरों के अलावा अन्य प्रत्येकबुद्ध महापुरुषों ने जो उपदेश दिया था उसे भी प्रत्येकबुद्ध के केवली होने से आगम में सन्निविष्ट करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती थी। इसी प्रकार गणिपिटक के ही आधार पर मन्दबुद्धि शिष्यों के हितार्थ श्रुतकेवली आचार्यों ने जो ग्रन्थ बनाये थे उनका समावेश भी आगम के साथ उनका अविरोध

होने से और आगमार्थ की ही पुष्टि करने वाले होने से आगमों में कर लिया गया। अन्त में सम्पूर्ण दशपूर्व के ज्ञाता द्वारा ग्रथित ग्रन्थ भी आगम में समाविष्ट इसलिए किये गये कि वे भी आगम को पुष्ट करने वाले थे और उनका आगम से विरोध इसलिए भी नहीं हो सकता था कि वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि होते थे।'' **मूलाचार** की निम्न गाथा से इसी बात की सूचना मिलती है—

सुत्तं गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्ध कथिदं च ।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिण्णदसपुव्वकथिदं च ।।५,८०।।

दशपूर्वधरों के अभाव के पश्चात् भी आगमों की संख्या में वृद्धि रुकी नहीं अपितु आगम रूप से मान्य कुछ प्रकीर्णक अपनी निर्दोषता और वैराग्य भाव की वृद्धि में अपने विशेष उपयोग अथवा कर्त्ता आचार्य की विशेष प्रतिष्ठा के कारण आगम में सम्मिलित कर लिये गये।

जैनागमों की संख्या बढ़ने की परिणति इन आगम ग्रन्थों के अङ्ग, उपाङ्ग, छेद आदि रूप में वर्गीकरण में हुई। जैन साहित्यिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि आगमों का वर्तमान वर्गीकरण बहुत प्राचीन नहीं है। यहाँ पर आगमों के सभी वर्गीकरणों की पृष्ठभूमि पर विचार न कर छेदसूत्र के रूप में आगम के वर्गीकरण सम्बन्धी साहित्यिक साक्ष्यों का विवेचन प्रस्तुत है।

जैन परम्परा (श्वेताम्बर जैनों के विभिन्न सम्प्रदाय) में छेदसूत्रों की संख्या के विषय में मतभेद है। छः छेदसूत्र ग्रन्थों में से **महानिशीथ** और **जीतकल्प** इन दोनों को स्थानकवासी और तेरापन्थी नहीं मानते, वे केवल चार को स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय छः छेदसूत्रों को मानता है।

छेद संज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारम्भ में कौन-कौन से आगम ग्रन्थ सम्मिलित थे, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभी तक जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं उनके अनुसार **आ०नि०** [४] में सर्वप्रथम छेदसूत्र का उल्लेख मिला है। इससे प्राचीन उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। अतः इतना तो कहा ही जा सकता है कि **आ०नि०** के समय तक छेदसूत्र का वर्ग पृथक् हो गया था। आचार्य देवेन्द्रमुनि[५] के वक्तव्य से भी उक्त मत की पुष्टि होती है, "छेदसूत्र का सबसे प्रथम प्रयोग आवश्यकनिर्युक्ति में हुआ है। उसके पश्चात् विशेषावश्यकभाष्य, निशीथभाष्य आदि में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। तात्पर्य यह है कि हम आवश्यकनिर्युक्ति को यदि ज्योतिर्विद् वराहमिहिर के भ्राता द्वितीय भद्रबाहु की भी कृति मानते हैं तो विक्रम की छठीं शताब्दी में उन्होंने इसका प्रयोग किया है ऐसा कहा जा सकता है। यद्यपि निर्युक्ति साहित्य को द्वितीय भद्रबाहु की रचना स्वीकार करने के विषय में मतैक्य नहीं है तथापि इससे छेदसूत्रों के प्रथम उल्लेख की ऊपरी समय सीमा निर्धारित की जा सकती है।''

आगम-वर्गीकरण के रूप में छेदसूत्र संज्ञा का अस्तित्व आने के पहले ही छेदसूत्र वर्ग में समाविष्ट कुछ ग्रन्थों या सभी छः ग्रन्थों का उल्लेख प्राप्त होता है। छेदसूत्र ग्रन्थों में से **आचारदशा** (दशाश्रुतस्कन्ध) का उल्लेख **स्थानाङ्ग**[८] में प्राप्त होता हैं। **समवायाङ्ग**[९] में दशा-कल्प-व्यवहार इन तीन के उद्देशनकाल की चर्चा है।

आचार्य उमास्वाति ने **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य**[१०] में अङ्ग के साथ उपाङ्ग शब्द का निर्देश किया है। उपाङ्ग शब्द से उनका तात्पर्य अङ्ग बाह्य ग्रन्थों से है। आचार्य उमास्वाति द्वारा अङ्ग बाह्य की सूची में दशा आदि छेद ग्रन्थों का एक साथ निर्देश उनके वर्गीकरण की पूर्व सूचना देता है।

दिगम्बर परम्परा में आगम मान्य **षट्खण्डागम** की प्रख्यात **धवलाटीका** में अङ्ग बाह्य आगमों की चर्चा के प्रसङ्ग में कप्प, ववहार, कप्पाकप्पिय, महाकप्पिय, पुंडरीय, महापुंडरीय और निसीह का निर्देश है। पण्डित मालवणिया[११] के अनुसार छेदसूत्रों के मध्य पुण्डरीक और महापुण्डरीक के उल्लेख को यदि छोड़ दिया जाय तो **धवला** भी छेद के वर्गीकरण की सूचना दे रही है।

श्रीचन्द्र आचार्य (ई० १११२ से प्रारम्भ) ने **सुखबोधा सामाचारी**[१२] की रचना की है। उन्होंने आगम के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है। उसमें उल्लेख है कि प्रथम चार आचाराङ्ग से समवायाङ्ग तक पढ़ने के बाद निशीथ, जीतकल्प, पञ्चकल्प, कल्प, व्यवहार और दशा पढ़े जाते थे। निशीथ आदि की छेदसंज्ञा का यहाँ उल्लेख नहीं है किन्तु इन सबको एक क्रम में रखा गया है यह उनकी एक वर्ग से सम्बद्धता सूचित करता है।

जिनप्रभकृत **सिद्धान्तागमस्तोत्र**[१३] में भी आगमों के नामपूर्वक स्तवन के क्रम में निशीथ, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, पञ्चकल्प, जीतकल्प और महानिशीथ का एक साथ उल्लेख है। इससे स्पष्ट है कि भले ही जिनप्रभ ने वर्गों के नाम नहीं दिये किन्तु उस समय तक कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए, ऐसा क्रम तो बन ही गया होगा।

आचार्य जिनप्रभ ने **विधिमार्गप्रपा**[१४] (१३०६ ई०) में भी आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन करते हुए ५१ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। इसमें क्रमसंख्या ८-निशीथ, ९-११ दशा-कल्प-व्यवहार, १२-पञ्चकल्प और १३-जीतकल्प का एक क्रम में उल्लेख है।

जिनप्रभ ने **जोगविहाण**[१५] शीर्षक प्राकृत गाथा प्रकरण का भी उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। इसमें **समवायाङ्ग** के पश्चात् दसा-कप्प-ववहार-निसीह का उल्लेख करके इनकी ही छेदसूत्र ऐसी संज्ञा भी प्रदान की है। (गाथा २२, पृ० ५९)

'छेद' शब्द की व्युत्पत्ति

'छेद' शब्द छिद् धातु से (काटने या भेदने अर्थ में) भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। छेद का शाब्दिक अर्थ होता है[१४]— काटना, गिराना, तोड़ डालना, खण्ड-खण्ड करना, निराकरण करना, हटाना, छिन्न-भिन्न करना, साफ करना, नाश, विराम, अवसान, समाप्ति, लोप होना, टुकड़ा, ग्रास, कटौती, खण्ड, गोत्र, आदि।

जैन परम्परा में छेद शब्द सामान्यत: जैन आचार्यों द्वारा प्रायश्चित्त के एक भेद के रूप में ही ग्रहण किया गया है। आचार्य कुन्दकुन्द[१५] ने छेद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है "सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाओं में जो सदा साधु की प्रयत्न के बिना प्रवृत्ति होती है— उन्हें असावधानी से सम्पन्न किया जाता है— यह प्रवृत्ति हिंसारूप मानी गई है। शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के छेद (विनाश) का कारण होने से उसे छेद (अशुद्ध उपयोग रूप) कहा गया है।" पूज्यपाद ने **'सर्वार्थसिद्धि'**[१६] में इसे परिभाषित करते हुए कहा है— "कान, नाक आदि शरीर के अवयवों के काटने का नाम छेद है। यह अहिंसाणुव्रत के पाँच अतिचारों के अन्तर्गत है। दिन, पक्ष अथवा मास आदि के विभाग से अपराधी साधु के दीक्षाकाल को कम करना छेद कहा जाता है। यह नौ प्रकार के प्रायश्चित्तों में से एक है।" **तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनवृत्ति**[१७] में छेद का अर्थ अपवर्तन और अपहार बताया गया है। छेद, महाव्रत-आरोपण के दिन से लेकर दीक्षा-पर्याय का किया जाता है। जिस साधु के महाव्रत को स्वीकार किये दस वर्ष हुए हैं उसके अपराध के अनुसार कदाचित् पाँच दिन का और कदाचित् दस दिन इस प्रकार छ: मास प्रमाण तक दीक्षापर्याय का छेद किया जा सकता है। इसप्रकार छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेदसूत्र की उत्तमता

छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत माना गया है। **निशीथभाष्य**[१८] में भी इसकी उत्तमता का उल्लेख है। चूर्णिकार जिनदास महत्तर[१९] यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों है? पुन: स्वयं उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है।

छेदसूत्र नामकरण

दशाश्रुतस्कन्ध आदि आगम ग्रन्थों को छेदसूत्र संज्ञा प्रदान किये जाने के आधार के विषय में भी जैन विद्वानों ने विचार किया है।[२०] शुब्रिंग के अनुसार छेदसूत्र और मूलसूत्र जैन परम्परा में विद्यमान दो प्रायश्चित्तों—छेद और मूल से लिये गये हैं।

प्रो०एच०आर०कापडिया[११] के अनुसार छेद का अर्थ छेदन और छेदसूत्र का अभिप्राय उस शास्त्र से लिया जा सकता है जिसमें उन नियमों का निरूपण है जो श्रमणों द्वारा नियमों का अतिक्रमण करने पर उनकी वरिष्ठता (दीक्षापर्याय) का छेदन करते हैं।

कापडिया के मत में इस विषय में दूसरा और अधिक तर्कसङ्गत आधार **पञ्चकल्पभास**[१२] की इस गाथा के आलोक में प्रस्तुत किया जा सकता है— परिणाम अपरिणामा अइपरिणामा य तिविहा पुरिसा तु। णातूणं छेदसुत्तं परिणामणे होंति दायव्वं।। इस गाथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रों का वह समूह जिसकी शिक्षा केवल परिणत (ग्रहण सामर्थ्य वाले) शिष्यों को ही दी जा सकती है, अपरिणत और अतिपरिणत को नहीं वह छेदसूत्र कहा जाता है।

छेदसूत्रों के नामकरण के सम्बन्ध में आचार्य देवेन्द्र मुनि[१३] ने भी तर्क प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पहले प्रश्न किया कि अमुक आगमों को छेदसूत्र यह अभिधा क्यों दी गयी? पुनः उत्तर देते हुए कहा इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रन्थों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को 'छेदसूत्र' कहा गया है वे प्रायश्चित्तसूत्र हैं। आचार्य देवेन्द्रमुनि का अभिमत है कि श्रमणों के पाँच चारित्रों— १. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय, ३. परिहारविशुद्धि, ४. सूक्ष्मसम्पराय ५. और यथाख्यात— में से अन्तिम तीन चारित्र वर्तमान में विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनिय चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का सम्बन्ध भी इसी चारित्र से है। सम्भवतः इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

आचार्य ने दूसरी सम्भावना प्रस्तुत करते हुए कहा कि **आ०वृ०** (मलयगिरि) में छेदसूत्रों के लिए पद-विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद-विभाग और छेद— ये दोनों शब्द समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। सम्भवतः इसी दृष्टि से छेदसूत्र नाम रखा गया हो क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से सम्बन्ध नहीं है, सभी सूत्र स्वतन्त्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद दृष्टि से या विभाग-दृष्टि से की जाती है।

उनके मत में तीसरी सम्भावना यह हो सकती है कि **दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प** और **व्यवहार** नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं, उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

छेदसूत्रों की संख्या

पञ्चकल्प के विलुप्त होने के पश्चात् जीतकल्प छठें छेदसूत्र के रूप में समाविष्ट कर लिया गया। कापडिया[१४] का अभिमत है कि यद्यपि वे पञ्चकल्प के स्वतन्त्र ग्रन्थ

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

के रूप में परिगणित किये जाने की अथवा इसके विलुप्त होने की वास्तविक तिथि बताने की स्थिति में नहीं है। परन्तु **जैन ग्रन्थावली** से ज्ञात होता है कि संवत् १६१२ तक इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध थी।

प्रो०विण्टरनित्ज[१५] के अनुसार छः छेदसूत्रों की संख्या इसप्रकार है— कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और महानिशीथ। कालिकसूत्र के रूप में उल्लिखित दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानिशीथ इन पाँच छेदसूत्रों की सूची यह इङ्गित करती है कि आरम्भ में छेदसूत्रों की संख्या पाँच ही थी।

छेदसूत्रों की सामान्य विषय-वस्तु

छेदसूत्रों का सामान्य वर्ण्यविषय है, साधक के साधनामय जीवन में उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उनसे दूर रहना और दोष उत्पन्न होने पर उसका परिमार्जन करना। इस दृष्टि से छेदसूत्रों के विषय को चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है- १. उत्सर्ग मार्ग, २. अपवाद मार्ग, ३. दोष-सेवन, ४. और प्रायश्चित्त विधान।

प्रथम, साधु समाचारी के ऐसे नियम जिन्हें बिना किसी हीनाधिक के या परिवर्तन के, प्रामाणिकता से पालन करना श्रमण के लिए अनिवार्य है उन्हें उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। निर्दोष चारित्र की आराधना इस मार्ग की विशेषता है।

द्वितीय, अपवाद मार्ग से यहाँ अभिप्राय है, विशेष विधि। यह दो प्रकार की होती है— निर्दोष विशेष विधि और सदोष विशेष विधि। आपवादिक विधि सकारण होती है। जिस क्रिया या प्रवृत्ति से आज्ञा का अतिक्रमण न होता हो, वह निर्दोष है। परन्तु प्रबलता के कारण मन न होते हुए भी विवश होकर दोष का सेवन करना पड़े या किया जाये, वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है।

तृतीय, दोष-सेवन का अर्थ है- उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का उल्लङ्घन। चतुर्थ, प्रायश्चित्त का अर्थ है— दोष-सेवन के शुद्धिकरण के लिए की जाने वाली विधि।

दशाश्रुतस्कन्ध : परिचय

कालिक ग्रन्थ

नन्दीसूत्र[१६] में पहले जैन आगम साहित्य को अङ्गप्रविष्ट और अङ्गबाह्य में वर्गीकृत किया गया है। पुनः अङ्गबाह्य आगम को आवश्यक, आवश्यकव्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में वर्गीकृत किया गया है। ३१ कालिक ग्रन्थों में उत्तराध्ययन के पश्चात् दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानिशीथ इन छेदसूत्रों का उल्लेख है। कालिक ग्रन्थों का स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था।

रचना-प्रकृति

जैन आगमों की रचनायें दो प्रकार से हुई हैं[७]- १. कृत, २. निर्यूहित। जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम 'कृत' कहलाते हैं। जैसे गणधरों द्वारा रचित द्वादशाङ्गी और भिन्न-भिन्न स्थविरों द्वारा निर्मित उपाङ्ग साहित्य 'कृत' आगम हैं। निर्यूहित आगम वे हैं जिनके अर्थ के प्ररूपक तीर्थङ्कर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और संक्षेप में उपलब्ध वर्तमान रूप के रचयिता भी ज्ञात हैं जैसे दशवैकालिक के शय्यम्भव तथा कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता भद्रबाहु हैं। **द०नि०**[८] से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है। **पञ्चकल्पचूर्णि**[९] से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है— तेण भगवता आयारकप्प-दसा-कप्प-ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी म

रचनाकाल

सामान्य रूप से आगमों के रचनाकाल की अवधि ई०पू० पाँचवीं से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष मानी जाती है। इस अवधि में ही छेदसूत्र भी लिखे गये हैं। परम्परागत रूप से छः छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र की रचना भद्रबाहु प्रथम द्वारा मानी जाती है। भद्रबाहु का काल ई०पू० ३५७ के आस-पास निश्चित है। अतः इनके द्वारा रचित दशाश्रुत आदि का समय भी वही होना चाहिए। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ०जैकोबी[१०] और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रों का समय ई० पूर्व चौथी का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ माना जा सकता है। शुब्रिंग[११] के शब्दों में— "..... the old Cheyasuttas...., Significant are old grammatical forms...., A metrical investigation made by Jacobi, as was said before, resulted in surmising the origin of the most ancient texts of about the end of the 4th and the beginning of the third century B.C."

विच्छेद

तित्थोगाली[१२] प्रकीर्णक में विभिन्न आगम ग्रन्थों का विच्छेद काल उल्लिखित है। इसके अनुसार वीर निर्वाण संवत् १५०० ई० (सन् ९७३) में दशाश्रुत का विच्छेद हुआ है। विच्छेद का तात्पर्य सम्पूर्ण ग्रन्थ का लोप मानना उचित नहीं होगा। इस सम्बन्ध में प्रो०सागरमल जैन[१३] का कथन अत्यन्त प्रासङ्गिक है, "विच्छेद का अर्थ यह नहीं है कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया है। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी जो अङ्ग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप में उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानाङ्ग, समवायाङ्ग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है।" तित्थोगाली के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं

दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र के विच्छेद का उल्लेख न होना इस तथ्य का प्रमाण है कि इस छेदसूत्र का विच्छेद नहीं हुआ है।

स्रोत

द०चू०[१४] के अनुसार दशाश्रुत, व्यवहार और बृहत्कल्पसूत्र— ये नवम प्रत्याख्यानपूर्व से उद्धृत किये गये हैं। इसप्रकार इसका स्रोत नवम पूर्व है।

विषय-वस्तु

स्थानाङ्गसूत्र में उल्लिखित दशाश्रुतस्कन्ध के दसों दशाओं के शीर्षक वर्तमान दशाश्रुतस्कन्ध से साम्य रखते हैं। ये दशायें इसप्रकार हैं— १. असमाधिस्थान, २. शबलदोष, ३. आशातना, ४. गणिसम्पदा, ५. चित्तसमाधि, ६. उपासकप्रतिमा, ७. भिक्षुप्रतिमा, ८. पर्युषणाकल्प, ९. मोहनीयस्थान १०. और आयति स्थान।

प्रथम दशा में २० असमाधिस्थान हैं। दूसरी दशा में २१ शबलदोष हैं। तीसरी दशा में ३३ आशातनायें हैं। चौथी दशा में आचार्य की आठ सम्पदा और चार कर्त्तव्य कहे गए हैं तथा चार कर्त्तव्य शिष्य के कहे गए हैं। पाँचवीं दशा में चित्त की समाधि होने के १० बोल कहे हैं। छठीं दशा में श्रावक की ११ प्रतिमाएँ हैं। सातवीं दशा में भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ हैं। आठवीं दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न हो गया या विकृत हो गया है। इसमें साधुओं की समाचारी का वर्णन था इस दशा का उद्धृत रूप वर्तमान **कल्पसूत्र** माना जाता है। नौवीं दशा में ३० महामोहनीय कर्मबन्ध के कारण हैं। दसवीं दशा में ९ निदानों का निषेध एवं वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है। दशा-क्रम से इस छेदसूत्र की संक्षिप्त विषय-वस्तु निम्न प्रकार है—

प्रथमदशा

साध्वाचार (संयम) के सामान्य दोषों या अतिचारों को असमाधिस्थान कहा गया है। इनके सेवन से संयम निरतिचार नहीं रहता है। बीस असमाधिस्थान निम्न हैं—

१. शीघ्रता से चलना,
२. अन्धकार में चलते समय प्रमार्जन न करना,
३. सम्यक् रूप से प्रमार्जन न करना,
४. अनावश्यक पाट आदि ग्रहण या रखना,
५. गुरुजनों के सम्मुख बोलना,
६. वृद्धों को असमाधि पहुँचाना,

७. पाँच स्थावर कायों की सदा यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना, करवाना,

८. क्रोध से जलना अर्थात् मन में क्रोध रखना,

९. क्रोध करना अर्थात् वचन या व्यवहार द्वारा क्रोध को प्रकट करना,

१०. पीठ पीछे निन्दा करना,

११. कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना,

१२. नया कलह करना,

१३. उपशान्त कलह को पुनः उभारना,

१४. अकाल (चौंतीस प्रकार के अस्वाध्यायों) में सूत्रोच्चारण करना,

१५. सचित्त रज या अचित्त रज से युक्त हाथ-पाँव का प्रमार्जन न करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना,

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१६. अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एवं उच्च स्वर से आवेश युक्त बोलना,

१७. सङ्घ या सङ्गठन में अथवा प्रेम सम्बन्ध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना,

१८. कलह करना, तुच्छतापूर्ण व्यवहार करना,

१९. मर्यादित समय के अतिरिक्त भी आहार ग्रहण करना,

२०. अनेषणीय आहार-पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की उपेक्षा करना।

द्वितीयदशा

शबल, प्रबल, ठोस, भारी, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द हैं। संयम के शबल दोषों का अर्थ है— सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। ये दोष संयम के अनाचार रूप होते हैं। इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये संयम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं। शबल दोष संयम में बड़े अपराध हैं और असमाधिस्थान संयम में छोटे अपराध हैं। दूसरी दशा में प्रतिपादित इक्कीस शबल दोष निम्नप्रकार हैं—

१. हस्तकर्म, २. मैथुन सेवन, ३. रात्रिभोजन, ४. साधु के निमित्त बने आधाकर्मी आहार-पानी आदि का ग्रहण, ५. राज प्रासाद में गोचरी, ६. सामान्य साधु-साध्वियों के निमित्त बने उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया हो ऐसे आहारादि पदार्थ लेना, ७. बार-बार तप-त्याग आदि का भङ्ग करना, ८. बार-बार गण का त्याग और स्वीकार,

९.,१९. घुटने (जानु) पर्यन्त जल में एक मास में तीन बार या वर्ष में १० बार चलना अर्थात् आठ महीने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उतरने पर शबल दोष नहीं है। १०., २०. एक मास में तीन बार और वर्ष में १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। ११. शय्यातर पिण्ड ग्रहण करना, १२-१४. जानकर सङ्कल्पपूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना। १५-१७. त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित्त स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना। १८. जानकर सचित्त हरी वनस्पति (१. मूल, २. कन्द, ३. स्कन्ध, ४. छाल, ५. कोंपल, ६. पत्र, ७. पुष्प, ८. फल, ९. बीज और १०. हरी वनस्पति खाना, २१. जानकर सचित्त जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार-अनाचार अन्य अनेक हो सकते हैं, फिर भी यहाँ अपेक्षा से २० असमाधिस्थान और २१ शबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथायोग्य विवेक से इन्हीं में अन्तर्भावित कर लेना चाहिए।

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तृतीयदशा

आशातना की परिभाषा इसप्रकार है— देव गुरु की विनय-भक्ति न करना, अविनय-अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भङ्ग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा, तिरस्कार करना 'आशातना' है। इन सभी अपेक्षाओं से **आवश्यकसूत्र** में ३३ आशातनाएँ कही गयी हैं। प्रस्तुत दशा में केवल गुरु-रत्नाधिक (श्रेष्ठ) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

श्रेष्ठ जनों के साथ चलने, बैठने, खड़े रहने, आहार, विहार, निहार सम्बन्धी समाचारी के कर्त्तव्यों में, बोलने, शिष्टाचार, भाव और आज्ञापालन में अविवेक-अभक्ति से प्रवर्तन करना 'आशातना' है।

चतुर्थदशा

साधु-साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण वर्णित है, जैसे—

१. आचारसम्पन्न- सम्पूर्ण संयम सम्बन्धी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध, मानादि कषायों से रहित, शान्त स्वभाव वाला।

२. श्रुतसम्पदा- आगमोक्त क्रम से शास्त्रों को कण्ठस्थ करने वाला एवं उनके अर्थ-परमार्थ को धारण करने वाला।

३. शरीरसम्पदा- समुचित संहनन-संस्थान वाला एवं सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

४. उपवास युक्त छः पौषध (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना।

५. पौषध के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना।

६. प्रतिपूर्ण ब्रह्मचर्य का आगार रहित पालन करना। साथ ही ये नियम रखना— १. स्नान-त्याग, २. रात्रिभोजन-त्याग, ३. और धोती की एक लांग खुली रखना।

७. आगाररहित सचित्त वस्तु खाने का त्याग।

८. आगाररहित स्वयं हिंसा करने का त्याग।

९. दूसरों से सावद्य कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्मकार्य की प्रेरणा के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा या आदेश नहीं करना।

१०. सावद्य कार्य के अनुमोदन का भी त्याग अर्थात् अपने लिए बनाए गए आहारादि किसी भी पदार्थ को न लेना।

११. श्रमण के समान वेश एवं चर्या धारण करना।

लोच करना, विहार करना, सामुदायिक गोचरी करना या आजीवन संयमचर्या धारण करना इत्यादि का इसमें प्रतिबन्ध नहीं है। अतः वह भिक्षा आदि के समय स्वयं को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातिजनों के घरों में गोचरी हेतु जाता है। आगे-आगे की प्रतिमाओं में पहले-पहले की प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है।

सप्तमदशा

भिक्षु का दूसरा मनोरथ है "मैं एकलविहारप्रतिमा धारण कर विचरण करूँ।" भिक्षुप्रतिमा भी आठ मास की एकलविहारप्रतिमा युक्त होती है। विशिष्ट साधना के लिए एवं कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओं को धारण करता है।

प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम

१. दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो। स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमें से ही विवेक के साथ लेना।

२. दिन के तीन भाग कल्पित कर किसी एक भाग में गोचरी लाना और आहार ग्रहण करना।

३. छः प्रकार की भ्रमण विधि के अभिग्रह से गोचरी लेने जाना।

४. अज्ञात क्षेत्र में दो दिन और ज्ञात-परिचित क्षेत्रों में एक दिन से अधिक नहीं ठहरना।

५. चार कारणों के अतिरिक्त मौन ही रहना, धर्मोपदेश भी नहीं देना।

६-७. तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के संस्तारक का ही उपयोग करना।

८-९. साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री-पुरुष आयें, ठहरें या अग्नि लग जाये तो भी बाहर नहीं निकलना।

१०-११. पैर से काँटा या आँख से रज आदि नहीं निकालना।

१२. सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नहीं चलना। रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जाने का विधान है।

१३. हाथ-पैर में सचित्त रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वतः अचित्त न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना।

१४. अचित्त जल से भी सुख-शान्ति के लिए हाथ-पैर प्रक्षालन-निषेध।

१५. उन्मत्त पशु भी चलते समय सामने आ जाए तो मार्ग नहीं छोड़ना।

१६. धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना ।

प्रथम सात प्रतिमाएँ एक-एक महीने की है। उनमें दत्ति की संख्या १ से ७ तक वृद्धि होती है। आठवीं, नवीं, दसवीं प्रतिमाएँ सात-सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती हैं। सूत्रोक्त तीन-तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा में छट्ठ के तप के साथ एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में अट्ठम तप के साथ श्मशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

अष्टमदशा

इस दशा का नाम पर्युषणाकल्प है। इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एवं पर्युषणा सम्बन्धी समाचारी के विषयों का कथन है। वर्तमान कल्पसूत्र आठवीं दशा से उद्धृत माना जाता है।

नवमदशा

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है, महामोहनीय कर्म उससे भी तीव्र होता है। उसके बन्ध सम्बन्धी ३० कारण यहाँ वर्णित हैं—

मार्गदर्शक : आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तीस महामोह के स्थान

१-३. त्रस जीवों को जल में डुबाकर, श्वास रूंधकर, धुआँ कर, मारना,

४-५. शस्त्र-प्रहार से सिर फोड़कर, सिर पर गीला कपड़ा बाँधकर मारना,

६. धोखा देकर भाला आदि मारकर हँसना,

७. मायाचार कर उसे छिपाना, शास्त्रार्थ छिपाना,

८. मिथ्या आक्षेप लगाना,

९. भरी सभा में मिश्र भाषा का प्रयोग कर कलह करना,

१०-१२. ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को वैसा प्रसिद्ध करना,

१३-१४. उपकारी पर अपकार करना,

१५. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना,

१६-१७. अनेक के रक्षक, नेता या स्वामी आदि को मारना,

१८. दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना,

१९. तीर्थङ्करों की निन्दा करना,

२०. मोक्षमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा कर भव्य जीवों का मार्ग भ्रष्ट करना,

२१-२२. उपकारी आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना करना, उनका आदर, सेवा एवं भक्ति न करना।

२३-२४. बहुश्रुत या तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत या तपस्वी कहना,

२५. कलुषित भावों के कारण समर्थ होते हुए भी सेवा नहीं करना,

२६. सङ्घ में भेद उत्पन्न करना,

२७. जादू-टोना आदि करना,

२८. कामभोगों में अत्यधिक आसक्ति एवं अभिलाषा रखना,

२९. देवों की शक्ति का अपलाप करना, उनकी निन्दा करना,

३०. देवी-देवता के नाम से झूठा ढोंग करना।

अध्यवसायों की तीव्रता या क्रूरता के होने से इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बन्ध होता है।

दशमदशा

संयम-तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण

आगामी भव में ऐच्छिक सुख या अवस्था प्राप्त करने के लिए दाँव पर लगा देना 'निदान' कहा जाता है। ऐसा करने से यदि संयम-तप की पूँजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है। दूसरे शब्दों में राग-द्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व, नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्मभाव के निदानों से मोक्षप्राप्ति में बाधा होती है। अत: निदान कर्म त्याज्य है। वस्तुत: दशम अध्ययन का नाम आयति स्थान है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है- मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक सङ्कल्प। यह सङ्कल्प-विशेष ही निदान है।

आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान, जन्म का कारण होने से आयति स्थान माना गया है। आयति अर्थात् आय+ति, आय का अर्थ लाभ है। अत: जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है। दशाश्रुत में वर्णित निदान इसप्रकार हैं—

१. निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष-भोगों का निदान।

२. निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री-भोगों का निदान।

३. निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री-भोगों का निदान।

४. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष-भोगों का निदान।

५-६-७. सङ्कल्पानुसार दैविक सुख का निदान।

८. श्रावक-अवस्था प्राप्ति का निदान।

९. श्रमण जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानों का दुष्फल जानकर निदान रहित संयम तप की आराधना करनी चाहिए।

विषय-वस्तु का महत्त्व

दशाश्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु पर विचार करते हुए आचार्य देवेन्द्रमुनि[१५] ने कहा है कि असमाधि स्थान, चित्तसमाधि स्थान, मोहनीय स्थान और आयतिस्थान में जिन तत्त्वों का सङ्कलन किया गया है, वे वस्तुत: योगविद्या से सम्बद्ध हैं। योग की दृष्टि से चित्त को एकाग्र तथा समाहित करने के लिए ये अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उपासक प्रतिमा और भिक्षु प्रतिमा, श्रावक व श्रमण की कठोरतम साधना के उच्चतम नियमों का परिज्ञान कराते हैं। शबलदोष और आशातना इन दो दशाओं में साधु जीवन के दैनिक नियमों का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि इन नियमों का परिपालन होना ही चाहिए। चतुर्थ दशा गणि सम्पदा में आचार्य पद पर विराजित व्यक्ति

के व्यक्तित्व के प्रभाव तथा शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है।

आचार्य[१५] ने दशाश्रुतस्कन्ध के प्रतिपाद्य पर ज्ञेयाचार, उपादेयाचार और हेयाचार की दृष्टि से भी विचार किया है— असमाधिस्थान, शबलदोष, आशातना, मोहनीयस्थान और आयतिस्थान में साधक के हेयाचार का प्रतिपादन है। गणि सम्पदा में अगीतार्थ अनगार के ज्ञेयाचार का और गीतार्थ अनगार के लिए उपादेयाचार का कथन है। चित्तसमाधिस्थान में उपादेयाचार का कथन है। उपासक प्रतिमा में अनगार के लिए ज्ञेयाचार और सागार श्रमणोपासक के लिए उपादेयाचार का कथन है।

भिक्षु प्रतिमा में अनगार के लिए उपादेयाचार और सागार के लिए ज्ञेयाचार का कथन है। अष्टम दशा पर्युषणाकल्प में अनगार के लिए ज्ञेयाचार, कुछ हेयाचार अनागार और सागार दोनों के लिए उपयोगी है।

दशाओं का पौर्वापर्य एवं परस्पर सामञ्जस्य

दशाश्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित अध्ययनों के पौर्वापर्य का औचित्य सिद्ध करने से पूर्व इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि आचार्य ने समाधिस्थान का वर्णन न कर सर्वप्रथम असमाधि स्थानों का ही वर्णन क्यों किया? इसके उत्तर में आचार्य आत्माराम[१७] के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि असमाधि यहाँ नञ् तत्पुरुष समासान्त पद है। यदि नञ् समास न किया जाये तो यही बीस समाधि स्थान बन जाते हैं अर्थात् अकार को हटा देने से यही बीस भाव समाधि के स्थान हैं। इसप्रकार इसी अध्ययन से जिज्ञासु समाधि और असमाधि दोनों के स्वरूप को भलीभाँति जान सकते हैं।

अध्ययनों के पौर्वापर्य और परस्पर सामञ्जस्य की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि असमाधि स्थानों के आसेवन से शबलदोष की प्राप्ति होती है। अत: पहली दशा से सम्बन्ध रखते हुए सूत्रकार दूसरी दशा में शबलदोष का वर्णन करते हैं।[१८]

जिसप्रकार दुष्कर्मों से चारित्र शबलदोषयुक्त होता है, ठीक उसीतरह रत्नत्रय के आराधक आचार्य या गुरु की आशातना करने से भी चारित्र शबल दोषयुक्त होता है। अत: पहली और दूसरी दशा से सम्बन्ध रखते हुए तीसरी दशा में तैंतीस आशातनाओं का वर्णन है। आशतनाओं का परिहार करने से समाधि-मार्ग निष्कण्टक हो जाता है।

प्रारम्भिक तीनों दशाओं में असमाधि स्थानों, शबलदोषों और आशातनाओं का प्रतिपादन किया गया है। उनका परित्याग करने से श्रमण गणि पद के योग्य हो जाता है। अत: उक्त तीनों दशाओं के क्रम में चतुर्थ दशा में गणिसम्पदा का वर्णन है। गणि-सम्पदा से परिपूर्ण गणि समाधि-सम्पन्न हो जाता है किन्तु जब तक उसको चित्त

समाधि का भली भाँति ज्ञान नहीं होगा, तब तक वह उचित रीति से समाधि में प्रविष्ट नहीं हो सकता, अत: पूर्वोक्त दशाओं के अनुक्रम में ही पाँचवीं दशा में 'चित्तसमाधि' का वर्णन है।

सांसारी जीवों के लिए समाधि प्राप्त करना आवश्यक है। सभी मनुष्य साधुवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकते, अत: श्रावकवृत्ति से भी समाधि प्राप्त करना अपेक्षित है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं—उपासक प्रतिमाओं का छठी दशा में प्रतिपादन है। यही अणुव्रती सर्वविरति रूप चारित्र की ओर प्रवृत्त होना चाहे तो उसे श्रमण व्रत धारण करना पड़ता है। अत: सातवीं दशा में भिक्षुप्रतिमा का वर्णन है।

प्रतिमा समाप्त करने के अनन्तर मुनि को वर्षा ऋतु में निवास के योग्य क्षेत्र की गवेषणा कर अर्थात् उचित स्थान प्राप्त कर वर्षा ऋतु वहीं व्यतीत करनी पड़ती है। इस आठवीं दशा में वर्षावास के नियमों का प्रतिपादन है।

प्रत्येक श्रमण को पर्युषणा का आराधन उचित रीति से करना चाहिए, जो ऐसा नहीं करता वह मोहनीय कर्मों का उपार्जन करता है। अत: नवीं दशा में जिन-जिन कारणों से मोहनीय कर्मबन्ध होता है उनका वर्णन किया गया है। श्रमण को उन कारणों का स्वरूप जानकर उनसे सदा पृथक् रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सबसे प्रधान कर्म है। अत: प्रत्येक को इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके परिहार हेतु मोहदशा की रचना की गई है।

नवम दशा में महामोहनीय स्थानों का वर्णन किया गया है। कभी-कभी साधु उनके वशवर्ती होकर तप करते हुए निदान कर बैठता है। मोह के प्रभाव से कामभोगों की इच्छा उसके चित्त में जाग उठती है और उस इच्छा की पूर्ति की आशा से वह निदान कर्म कर लेता है। परिणामत: उसकी वह इच्छा "आयति" अर्थात् आगामी काल तक बनी रहती है, जिससे वह फिर जन्म-मरण के बन्धन में फँसा रहता है। अत: इस दशा में निदान कर्म का ही वर्णन करते हैं। यही नवमी दशा से इसका सम्बन्ध है। दशवीं दशा का नाम आयति दशा है। आयति शब्द का अर्थ जन्म या जाति जानना चाहिए। जो व्यक्ति निदान के कर्म से बँधेगा उसको फल भोगने के लिए अवश्य ही नया जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।

इसप्रकार कहा जा सकता है कि दशाश्रुतस्कन्ध आचार का प्रतिपादन करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसकी विषय-वस्तु तार्किक ढङ्ग से संयोजित है।

व्याख्या साहित्य

दशाश्रुतस्कन्ध पर व्याख्या साहित्य के रूप में भद्रबाहु कृत **निर्युक्ति**, अज्ञातकर्तृक **चूर्णि**, ब्रह्मर्षि या ब्रह्ममुनि कृत **जिनहितावृत्ति**, एक अज्ञातकर्तृक **टीका**, पृथ्वीचन्द्र

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

कृत **टिप्पणक** एवं एक अज्ञातकर्तृक **पर्याय** उपलब्ध है। इसमें से **निर्युक्ति** और **चूर्णि** का प्रकाशन हुआ है। परन्तु शेष व्याख्या साहित्य के प्रकाशित होने की सूचना उपलब्ध नहीं है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर इनका ग्रन्थ-परिमाण **निर्युक्ति** १४१ गाथा, चूर्णि २२२५ या २१६१ श्लोक-परिमाण ब्रह्ममुनि कृत टीका ५१५२ श्लोक-परिमाण है। दशाश्रुत स्कन्ध के प्रकाशित संस्करणों का उल्लेख किया गया है।

प्रकाशन

१. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्र–** हिन्दी अनु० सहित, अनु० मुनि अमोलक ऋषि, राजा बहादुर लाला सुखदेव सहाय, ज्वालाप्रसाद जौहरी, हैदराबाद १९२०, पृ० १४८, प्रताकार।

२. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्–** संस्कृत छाया, पदार्थान्वय, अर्थ, हिन्दी टीका, सूत्रानुक्रमणिका एवं शब्दार्थकोश सहित, अनु० व्याख्या० आत्माराम महाराज, जैन शास्त्रमाला-१, जैनशास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर १९३६, पृ० ४२, ४९६, ४१, डबल डिमाई।

३. **दशाश्रुतस्कन्ध,** निर्युक्ति एवं चूर्णि सहित, मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला सं० १४, भावनगर १९५५, पृ० ४२, १८४, प्रताकार।

४. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्–** संस्कृत छाया, टीका, हि०एवं गुज० अनु० सहित, मुनि घासीलाल जी, अ०भा०श्वे०स्था०जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट, द्वि०सं० १९६०, पृ० ४४, ४५०, डबल डिमाई।

५. **आयारदसा,** (मूल) सं० मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल', आगम अनुयोग प्रकाशन पुष्प १२, आगम अनुयोग प्रकाशन, बांकलीवाल, १९१७, पृ० १३८, पाकेट बुक आकार।

६. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम,** (मूल) सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला सं० ७६, आगम सुधा सिन्धु खण्ड ९, लाखाबावल, पृ० २४५-२८८, रायल आक्टो।

७. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम,** (मूल) सं० रतनलाल डोशी, अ०भा०स्था० जैन संस्कृति रक्षक संघ, सैलाना १९८०।

८. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्रम्** , (मूल) आनन्दसागर सूरि, आगम रत्न मञ्जूषा।

९. **दसाओ,** (मूल), नवसुत्ताणि-५, वाचनाप्रमुख गणाधिपति तुलसी, सं० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं १९८७, पृ० ४२५-४९१, डबल डिमाई।

१०. **दशाश्रुतस्कन्ध, 'त्रीणि छेदसूत्राणि'** (हि०अनु०, विवेचन, टिप्पण सहित), सं० मुनि कन्हैया लाल 'कमल', जिनागम ग्रं०मा० सं० ३२, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९९२, पृ० ३-१२४, डबल डिमाई।

आठवीं दशा पर्युषणाकल्प अथवा कल्पसूत्र

जैसा कि सुविख्यात है कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा को ही उद्धृत कर प्रारम्भ में जिनचरित और अन्त में स्थविरावली जोड़कर कल्पसूत्र नाम प्रदान किया गया है। पर्युषण पर्व के अवसर पर इसका पाठ करने से इसकी महत्ता एवं प्रचार दोनों में आशातीत वृद्धि हुई है। फलतः कल्पसूत्र पर व्याख्या साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इस पर लगभग ६० व्याख्याओं के लिखे जाने की सूचना उपलब्ध होती है। निर्युक्ति, चूर्णि और टिप्पणक, जो प्राचीन हैं और सम्पूर्ण छेदसूत्र की व्याख्या करते हैं, के अतिरिक्त चौदहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मध्य ज्यादातर व्याख्या ग्रन्थों की रचना हुई है। इनकी सूची एच०डी०वेलणकर द्वारा सङ्कलित **जिनरत्नकोश** (पृ० ७५-७९ पर) में दी गई है, जो निम्न हैं —

दुर्गपदनिरुक्त (१२६८)-विनयचन्द्र, **सन्देहविषौषधि** (१३०७)-जिनप्रभ, खरतरगच्छीय, **पञ्जिका**- जिनसूरि, **अवचूरि** (१३८६)-जिनसागरसूरि, **सुखावबोधविवरण**- जयसागरसूरि, **किरणावली** (१५७१)-धर्मसागरगणि, **अवचूरि** (१९८७)-अमरकीर्ति, **कल्पलता** (१६१४)-शुभविजय, **प्रदीपिका** (१६५७)-संघविजयगणि, **दीपिका** (१६२०)-जयविजयगणि, **मञ्जरी** (१६१८)-सहजकीर्तिगणि एवं श्रीसार, **दीपिका शिशुबोधिनी** (१६४१)-अजितदेव सूरि, **कल्पलता** (१६४२)-समयसुन्दर, खरतरगच्छीय, **सुबोधिका** (१६३९)-विनयविजय, **कौमुदी** (१६५०)-शान्तिसागर, तपागच्छीय, **बालावबोध** (१६५०)-बुधविजय, **दानदीपिका** (१६६५)-दानविजय, **दानदीपिका** (१६९३)-दानविजयगणि, तपागच्छ, **कल्पबोधिनी** (१७३१)-न्यायसागर, तपागच्छ, **कल्पद्रुमकलिका** (लगभग १८३५)-लक्ष्मीवल्लभगणि, खरतरगच्छ, **सूत्रार्थप्रबोधिनी** (१८९७)-विजयराजेन्द्रसूरि, त्रिस्तुतिगच्छ, **कल्पलता**, गुणविजयगणि, तपागच्छ, **दीपिका**-बुद्धविजय, **अवचूरि** -उदयसागर, अञ्चलगच्छ, **अवचूरि**-महीमेरु, **कल्पोद्योत**-न्यायविजय, **अन्तर्वाचना** (१४००)-गुणरत्नसूरि, **अन्तर्वाचना**-कुलमण्डन सूरि, **अन्तर्वाचना**-रत्नशेखर, **अन्तर्वाचना**-जिनहंस, **अन्तर्वाच्य**-भक्तिलाभ, **अन्तर्वाच्य**- जयसुन्दसूरि, **अन्तर्वाच्य**- सोमसुन्दसूरि, **स्तबक**- पार्श्वचन्द्रसूरि, **स्तबक**- रामचन्द्रसूरि, मडाहडगच्छ, **स्तबक** (१५८२)-सोमविमलसूरि, तपागच्छ, **बालावबोध**- क्षमाविजय, **बालावबोध** (१६५०)-मेरुविजय, **स्तबक** (१९७२)-विद्याविलासगणि, खरतरगच्छ, **बालावबोध** (१६७६)-सुखसागर और **माङ्गलिकमाला** (१७०६)।

कल्पसूत्र प्रकाशन

१. कल्पसूत्र, अनु० स्टीवेन्सन, १८४८।

२. अंग्रे०अनु०, भूमिका सहित, हर्मन जैकोबी, लिज्जिग,

३. अंग्रे०अनु०, हर्मन जैकोबी, सै०बु० ईस्ट सिरीज, खण्ड २२, क्लैरेण्डन प्रेस, आक्स्फोर्ड १८८४, पृ० ३२४, आकार डिमाई।

४. वृत्ति (**सुखबोधिका**-विनय विजय) सहित, हीरालाल हंसराज, जामनगर १९०८, पृ० ६०९।

५. वृत्ति (**सुखबोधिका**) सहित, सं० आनन्दसागर, दे०ला०पु०फण्ड (क्रम ७) पुनर्मु०क्र० १६, सूरत १९११, १९२३ (पुनर्मु०)।

६. गुज०अनु० (**सुखबोधिका**) भीमशी माणेक, बम्बई १९१५, पृ० १४३।

७. हि०अनु० सहित, अनु० माणिक मुनि, पूनमचन्द बुद्धिचन्द ढड्ढा, हिन्दी जैन ग्र०माला सं० १, सौभाग्यमल हरकावत, अजमेर १९१७, पृ० २२६।

८. वृत्ति (**कल्पद्रुमकलिका**-लक्ष्मीवल्लभगणि) बेलजी शिवजी माण्डवी, बम्बई १९१८, पृ० २८६।

९. हि०अनु०वृत्ति (**कल्पद्रुमकलिका**), हीरालाल केशरी चंद, नागपुर १९१८, पृ०२३०।

१०. वृत्ति (**कल्पद्रुमकलिका**) सहित, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १९१८।

११. वृत्ति (**किरणावली**-धर्मसागरगणि) सहित, जैन आत्मानन्द सभा ग्रन्थ रत्नमाला ७१, भावनगर १९२२, पृ० १२, ४०८, प्रताकार।

१२. वृत्ति (**सुखबोधिका**), जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १९८८।

१३. वृत्ति (**सन्देहविषौषधि**, जिनप्रभसूरि) सहित, हीरालाल हंसराज, जामनगर १९२३।

१४. वृत्ति (**सुखबोधिका**) सहित, मेघराज जैन बुकसेलर, बम्बई, १९२५, पृ०४५२।

१५. हिन्दी भावार्थ (**कल्पद्रुमकलिका**नुसार) सुमति जैनागम प्रकाशक कार्यालय, कोटा १९३३, पृ० ४२२, प्रताकार।

१६. वृत्ति (**प्रदीपिका**, सङ्घविजयगणि) सहित, वाडीलाल चकूभाई देवीशाह पाडा, अहमदाबाद १९३५।

१७. वृत्ति (**कल्पप्रदीपिका**) सहित, मुक्ति विमल जैन ग्रन्थमाला सं० ९, अहमदाबाद १९३५, पृ० २२, ३४२, प्रताकार।

१८. वृत्ति (**कल्प-कौमुदी**-शान्तिसागर) सहित, ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम १९३६, पृ० २४०, प्रताकार।

१९. वृत्ति (**कल्पलता**-समयसुन्दरगणि) सहित, जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फण्ड ग्रन्थमाला-४२, सूरत १९३९, पृ० ३४, ५८६, प्रताकार।

२०. वृत्ति (**सुखबोधिका**-विनय विजय) सहित, हीरालाल हंसराज, जामनगर १९३९, पृ० ४००, प्रताकार।

२१. हि०अनु०सहित, अनु० आनन्दसागर, सुमति जैनागम प्रकाशक कार्यालय, कोटा १९४०, पृ० ४२८।

मार्गदर्शक : आचार्य श्री कैलाससागर जी महाराज

२२. वृत्ति (**कल्पार्थबोधिनी**, केशरमुनि) सहित, मनमोहन यशःस्मारक ग्रन्थमाला, जिनदत्तसूरिभण्डार, बम्बई १९४२, पृ० २११।

२३. हि०अनु०वृत्ति (**कल्पप्रबोधिनी**) अनु० राजेन्द्र सूरि, राजेन्द्र प्रवचन कार्यालय, खुडाला (फालना) १९४४, पृ० २५२।

२४. हि०अनु० वृत्ति (**सुखबोधिका**-विनयविजय) आत्मानन्द जैन स्वर्गवास अर्द्धशताब्दी सं० २, आत्मानन्द जैन महासभा, जालन्धर १९४८, पृ० ३२०, प्रताकार।

२५. हि०अनु०सहित, अनु० प्यारचन्द जी, जैनोदय पुस्तक प्रकाशन समिति, रतलाम १९४९, पृ० २७८, प्रताकार।

२६. मू०,नि०, चूर्णि, टीका और गुज०अनु०सहित, सं० मुनि पुण्यविजय जी, साराभाई मणिलाल नवाब, अहमदाबाद १९५२।

२७. गुज०अनु०सहित, अनु०बुद्धिसागर, मनमोहन यशःमाला, जिनदाससूरि भण्डार, बम्बई १९६२, पृ० ३९१।

२८. गुज०अनु० बुद्धिमुनि टीका, मनमोहन यशःमाला, जिनदत्तसूरि भण्डार, बम्बई १९६२, पृ० २६४।

२९. हि०अर्थ, विवेचन व टिप्पण सहित, आचार्य देवेन्द्र मुनि, अमरजैन आगम शोध संस्थान, सिवाना १९६८, पृ० ४६६।

३०. हि०एवं अंग्रे० अनु० सहित, हि०अनु० एवं सं० म०म०विनयसागर, प्राकृत जैन भारती अकादमी, जयपुर (सचित्र) १९७७, पृ० ३४, ४०३ प्रताकार।

३१. अंग्रे०अनु० सहित, अनु० के०सी० ललवानी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९७९, पृ० १६, २०८, डिमाई।

३२. मूलमात्र, सं० जिनेन्द्रगणि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला, लाखाबावल १९७६, पृ० १३४, रायल आक्टो।

३३. हि०विवे०सहित, सं० एवं विवे० आचार्य देवेन्द्र मुनि, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर, चतुर्थ सं० १९८५, पृ० ४८, ३६०, ७२, रायल आक्टो।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

३४. हि०गुज०अनु० एवं वृत्ति (**कल्पमञ्जरी**-मुनि कन्हैयालाल) सहित दो भाग, अनु०मुनि घासीलाल, अ०भा०श्वे०स्था०जैन शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट १९८५, पृ० ५८० एवं ४९०, रायल आक्टो।

३५. कल्पसूत्रम् (बारसासूत्रम्) मूल (सचित्र) खरतरगच्छाचार्य जिनरङ्गसूरि महाराज पोषाल ट्रस्ट, ग्रन्थाङ्क-१, कलकत्ता १९९४, पृ० ४५, १८२, प्रताकार।

३६. पज्जोसवणाकप्पो— **नवसुत्ताणि** खण्ड ५, वाचनाप्रमुख आचार्य तुलसी, सं० आचार्य महाप्रज्ञ, जैन विश्वभारती, लाडनूं १९८७, पृ० ४९२-५६०।

●

सन्दर्भ :

१. **षट्खण्डागम** (धवला सहित) पुस्तक-१, सं० डॉ०हीरालाल जैन एवं ए०एन० उपाध्ये, ल०जै०सा०सि०ग्र०माला-१, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर १९७३, पृ० ९७।

२. प्रो०सागरमल जैन, "अर्धमागधी आगम साहित्य : एकविमर्श", **जैनविद्या के आयाम,** खण्ड ५, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९४, पृ० ५-८।

३. पं०दलसुख मालवणिया, प्रस्ता० **जैन साहित्य का बृहद् इतिहास,** भाग-१, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, ग्र०माला सं० ७, वाराणसी द्वि०सं० १९८९,पृ० २१।

४. जं च महाकप्पसुअं जाणि अ सेसाणि छेयसुत्ताणि ।
चरणकरणाणुओगो त्ति कालिअत्थे उवगयाणि ।।७७७।।

आवश्यकनिर्युक्ति, **निर्युक्तिसङ्ग्रह,** सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्र०मा०सं० १८९, लाखाबावल १९८९।

५. आचार्य देवेन्द्रमुनि, "छेदसूत्र : समीक्षात्मक विवेचन", **त्रीणिछेदसूत्राणि,** सं० मुनि कन्हैयालाल, जिनागम ग्रन्थमाला ३२, आगम प्रकाशन समिति,

६. दस दसाओ पण्णत्ताओ, तं जहा..... आयारदसाओ, स्थान १०/ सूत्र ११०। **स्थानाङ्गसूत्र,** सं० मधुकर मुनि, जिनागम ग्रन्थमाला ७, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८१।

७. **समवायाङ्गसूत्र,** समवाय ३७, सं० मधुकर मुनि, जिनागम ग्रन्थमाला ८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८२।

८. तस्य च महाविषयत्वात्तांस्तानर्थानधिकृत्य प्रकरणसमाप्त्यपेक्षमङ्गोपाङ्गनानात्वम्।। **तत्त्वार्थाधिगमसूत्रभाष्य,** अ० १/सू० २०, उमास्वाति, रायचन्द्र जैनशास्त्रमाला, परमश्रुतप्रभावक जैनमण्डल, बम्बई १९३२।

९. पं० मालवणिया, **बृहद् इतिहास,** पार्श्वनाथ १९८९, पृ० २६।

१०. वही, पृ० २४।

११. वही, पृ० २५।

१२. वही, पृ० २७।

१३. वही, पृ० २८।

१४. वी०एस०आप्टे, **संस्कृत-हिन्दी कोश,** मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली १९९३, पृ० ३९२।

१५. **प्रवचनसार,** ३/१६, आचार्य कुन्दकुन्द, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई १९१२।

१६. **सर्वार्थसिद्धि,** ७/२५, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५।

१७. **तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति,** ९/२२, सिद्धसेनगणि, दे०ला०पु० फण्ड, बम्बई १९२९।

१८. छेयसुयमुत्तमसुयं, **निशीथभाष्यचूर्णि,** भाग ४, ६/४८, सम्पा०अमरमुनि, ग्र०मा० ६, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह।

१९. छेयसुयं कम्हा उत्तमसुतं? भण्णामि--जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरण विशुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं। **नि०भा०चू०** भाष्यगाथा, ६/८४ की चूर्णि।

२०. प्रो०एच०आर०कापडिया, **द कैनानिकल लिटरेचर ऑव द जैनाज़,** लेखक, सूरत १९४१, पृ० ३६, पादटिप्पणी सं० ३।

२१. वही, पृ० ३६।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

२२. वही, पृ० ३६।

२३. आचार्य देवेन्द्र मुनि, **जैन आगम साहित्य,** तारक गुरु जैन ग्र०मा०सं० ७१, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७, पृ० २३-२४।

२४. कापडिया, **कैनानिकल,** सूरत १९४१, पृ० ३७।

२५. वही, पृ० ३९।

२६. प्रो०जैन, "अर्धमागधी आगम" **जैन आयाम-५,** पार्श्वनाथ, १९९४, पृ० ९।

२७. देवेन्द्रमुनि, "छेदसूत्र", **त्रीणिछेदसूत्राणि,** ब्यावर १९८२, पृ० ४१।

२८. वही, पृ० ४२।

२९. **पञ्चकल्पचूर्णि,** पत्र १ (लिखित), द्रष्टव्य-वही, पृ० ४२।

३०. पं०मालवणिया, **बृहद् इतिहास-एक,** पार्श्वनाथ, १९८९, पृ० ४१।

३१. डब्ल्यू०, शुब्रिंग, **द डाक्ट्रिन ऑव द जैनाज़,** अंग्रे०अनु० वुल्गैंग ब्यूलेंन, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली १९६२, पृ० ८१।

३२. भणिदो दसाण छेदो पन्नरससएहिं होइ वरिसाणं ।
समणम्मि फग्गुमित्ते गोयमगोत्ते महासत्ते ।।८१७।।

तित्थोगाली पइन्नयं - **'पइण्णयसुत्ताइं'** - (२), सं० मुनिपुण्यविजय, जैन आगम ग्रन्थमाला १७, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८४, पृ० ४८३।

३३. प्रो०जैन, "अर्धमागधी आगम", **जैन आयाम,** पार्श्वनाथ १९९४, पृ० ३३।

३४. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो या कतरातो उद्धृतं ? उच्यते पच्चखाण पुव्वाओ। — **द०चू०,** जिनदासगणि, 'मणिविजय गणि ग्रन्थमाला सं० १४, भावनगर १९५४, पृ० २।

३५. देवेन्द्रमुनि, "छेदसूत्र" **त्रीणिछेदसूत्राणि,** ब्यावर १९८२, पृ० १२-१३।

३६. वही, पृ० १३।

३७. **दशाश्रुतस्कन्धसूत्र,** अनु०आत्माराम, जैन शास्त्रमाला सं० १, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६, पृ० १०।

३८. वही, पृ० ३३-३४, ६४-६५, ९८-९९, १३९-१४०, १७२, २५५, ३१३, ३१८ एवं ३६३।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्वितीय अध्याय

निर्युक्ति-संरचना और दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति

जैन आगम साहित्य के एक वर्गीकरण के रूप में छेद सूत्रों की संख्या, नामकरण, सामान्य विषय-वस्तु, **दशाश्रुतस्कन्ध** की विषय-वस्तु, प्रकाशित संस्करण तथा अन्य ज्ञातव्य तथ्यों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने के पश्चात् **द०नि०** के प्रतिपाद्य के विषय में चर्चा करने से पूर्व निर्युक्ति साहित्य की संरचना और उसके प्रमुख अवयव निक्षेप सिद्धान्त का विवेचन अप्रासङ्गिक नहीं होगा।

आगमों की व्याख्या निर्युक्ति के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली **दश० निर्युक्ति**[1]की निम्न गाथायें —

निक्खेवेगट्ठ निरुत्तविही पवित्ती य केण वा कस्स ।
तद्दार भेयलक्खण तयरिह परिसा य सुत्तथो ।।५।।

एवं

भिक्खुस्स य निक्खेवो निरुत्तएगट्ठिआणि लिंगाणि ।
अगुणाट्ठिओ न भिक्खू अवयवा पंच दाराइं ।।३२२।।

निर्युक्ति साहित्य की संरचना पर या निर्युक्ति के अवयवों या घटकों पर कुछ सीमा तक प्रकाश डालती हैं। लेकिन निर्युक्ति साहित्य की संरचना को समग्र रूप से अभिव्यक्त करने वाला कोई प्राचीन उल्लेख अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। प्रो०कापडिया[2] ने भी इसी तथ्य को इङ्गित करते हुए कहा है— "In order that its nature may completely realised, it is necessary to tap another source wherein there is a specific mention of atleast its constituents." फिर भी हम उक्त गाथाओं के आलोक में कह सकते हैं कि निक्षेप, एकार्थ एवं निरुक्त निर्युक्ति साहित्य के घटक के रूप में प्राचीन साहित्य में भी वर्णित हैं। साथ ही दृष्टान्त कथाओं का सङ्केत भी पर्याप्त मात्रा में निर्युक्तियों में दृष्टिगोचर होता है।

निर्युक्ति साहित्य की संरचना में चारों घटकों— निक्षेप, एकार्थ, निरुक्त और दृष्टान्त की महत्ता एवं स्वरूप के सम्बन्ध में आधुनिक भारतीय एवं विदेशी विद्वानों ने भी मन्तव्य प्रस्तुत किया है।

निर्युक्ति साहित्य के प्रमुख घटक के रूप में निक्षेप की महत्ता बताते हुए एल०एल्सडोर्फ[3] का अभिमत है—

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

"This courious system of subjecting key-words to an investigation by applying a scheme of fixed view-points may be less fruitful philosophically, but it occupies almost a key position in early scholastic literature, particularly the Nijjuttis. It is of prime importance for understanding of these difficult and hitherto rather imperfectly explored texts."

निर्युक्ति साहित्य में एकार्थक का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए कापडिया[४] ने कहा है—

"Egattha is one of the features of Nijjutti and it should be so, for, otherwise a commentary is not worth the name. A thing or a point gets correctly understood when synonyms are suggested."

अवयव के रूप में निर्युक्ति में निरुक्त की उपस्थिति बताते हुए कापडिया[५] ने निरुक्त को भारतीय साहित्य को जैनों का योगदान कहा है। उनका अभिमत है—

"All the extant Nijjuttis more or less indulge in the discussion of Niruttas. This is another instance how the Indian literature gets enriched by Jaina contributions."

निर्युक्ति साहित्य में पर्याप्त संख्या में दृष्टान्त कथाओं का निर्देशमात्र उपलब्ध होता है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए जे० शार्पेण्टियर[६] ने उचित ही कहा है—

"For the most important aim of the Niryukti is apparently to give a sort of register of the legends and tales which are used to illustrate the religious sentences and moral or disciplinary rules given in the cononical text."

निक्षेप सिद्धान्त और निर्युक्ति साहित्य

निर्युक्ति साहित्य में निक्षेप सिद्धान्त का प्राधान्य है। यह निर् या नि पूर्वक क्षिप् धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। निक्षेप का प्रमुख पर्याय "न्यास" है— निक्षेपो न्यास: समर्पणम् । **विशेषावश्यकभाष्य टीका**[७] में "निक्षेप: मोचनं रचनं न्यास इति" इन्हें एकार्थक कहा गया है। जैन वाङ्मय में निक्षेप की अनेक परिभाषायें या लक्षण दिये गये है जिनमें न्यास-रखने के अभिप्राय की प्रधानता है। **सर्वार्थसिद्धि**[८] के अनुसार 'निक्षिप्यत इति निक्षेप: स्थापना' अर्थात् जिसे रखा जाता है उसे निक्षेप कहा जाता है। **राजवार्त्तिक**[९] में 'न्यसनं न्यस्यत निप इति वा न्यासो निक्षेप इत्यर्थ' अर्थात् सौंपना या धरोहर रखना निक्षेप कहलाता है। नामादिकों में वस्तु को रखना निक्षेप है। **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य**[१०] लक्षण से इसके भेदों पर भी प्रकाश पड़ता है। इसमें कहा गया

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

है कि लक्षण और विधानपूर्वक विस्तार से जीवादि तत्त्वों को जानने के लिए जो न्यास— नाम, स्थापनादि के भेद से विरचना या निक्षेप किया जाता है उसे निक्षेप कहते हैं।

निक्षेप सिद्धान्त का प्रयोजन इस प्रकार निर्दिष्ट है। अप्रकृत विषय का निवारण करने के लिए, प्रकृत विषय का प्ररूपण करने के लिए, संशय का विनाश करने के लिए और तत्त्वार्थ का निश्चय करने के लिए निक्षेपों का कथन करना चाहिए। **धवला**[११] के अनुसार निक्षेपों को छोड़कर वर्णन किया गया सिद्धान्त सम्भव है कि वक्ता और श्रोता दोनों को कुमार्ग में ले जाये इसलिए भी निक्षेपों का कथन करना चाहिए। इस प्रसङ्ग में प्रो० सागरमल जैन[१२] का कथन अत्यन्त प्रासङ्गिक है कि निर्युक्ति जैन परम्परा के पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण है। इसमें निक्षेप पद्धति से शब्द के सम्भावित विविध अर्थों का उल्लेख कर उनमें से अप्रस्तुत अर्थ का निषेध करके प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है।

निक्षेप के प्रमुख रूप से नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव तथा नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव क्रमशः ये चार और छः भेद माने जाते हैं। परन्तु जैन निक्षेप अनन्त माने जाते हैं और उन अनन्त निक्षेपों का संक्षेप रूप से चार में ही अन्तर्भाव हो जाता है। निर्युक्ति साहित्य में निक्षेप सिद्धान्त के भेदों और अवान्तर भेदों के द्वारा अभीष्ट शब्दों का निक्षेप किया गया है। अतः निक्षेप सिद्धान्त को भेद-प्रभेदों सहित भलीभाँति जाने बिना निर्युक्ति को समझना अत्यन्त दुरूह है। निर्युक्ति साहित्य के लिए निक्षेपों की अनिवार्यता को देखते हुए भी निक्षेप सिद्धान्त की विवेचना का अभी तक सन्तोषजनक प्रयास नहीं हुआ है। इस सम्बन्ध में एल्सडोर्फ[१३] के इस अभिमत से असहमति नहीं हो सकती कि— निक्षेपों का पूर्ण विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास नहीं हुआ है वे लिखते हैं—

"Yet I have not seen a full description which would explain the details of the Nikṣepa technique and make clear its general significance and practical use. This is why it is hoped that the following exposition will not be deemed superfluous."

Alsdorf के लेख— Nikṣepa 'A Jaina Contribution To Scholastic Methodology' के विषय में यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उन्होंने **अनुयोगद्वारसूत्र** के तीन सूत्रों के आधार पर निक्षेप सिद्धान्त को प्रस्तुत किया है। यद्यपि इन तीनों सूत्रों में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ निर्दिष्ट हैं लेकिन निर्युक्ति साहित्य के परिप्रेक्ष्य में निक्षेप के भेद-प्रभेदों की दृष्टि से **अनुयोगद्वारसूत्र** का विवरण पर्याप्त नहीं है। इसी उद्देश्य से जैन आगमों और दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन करने पर यह तथ्य सामने आया कि दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ **षट्खण्डागम** और उसकी टीका **धवला** में निक्षेप सिद्धान्त सम्भवतः सर्वाधिक विस्तार से निरूपित है। आगे दोनों ग्रन्थों में प्राप्त तथ्यों का तुलनात्मक विवरण प्रस्तुत है—

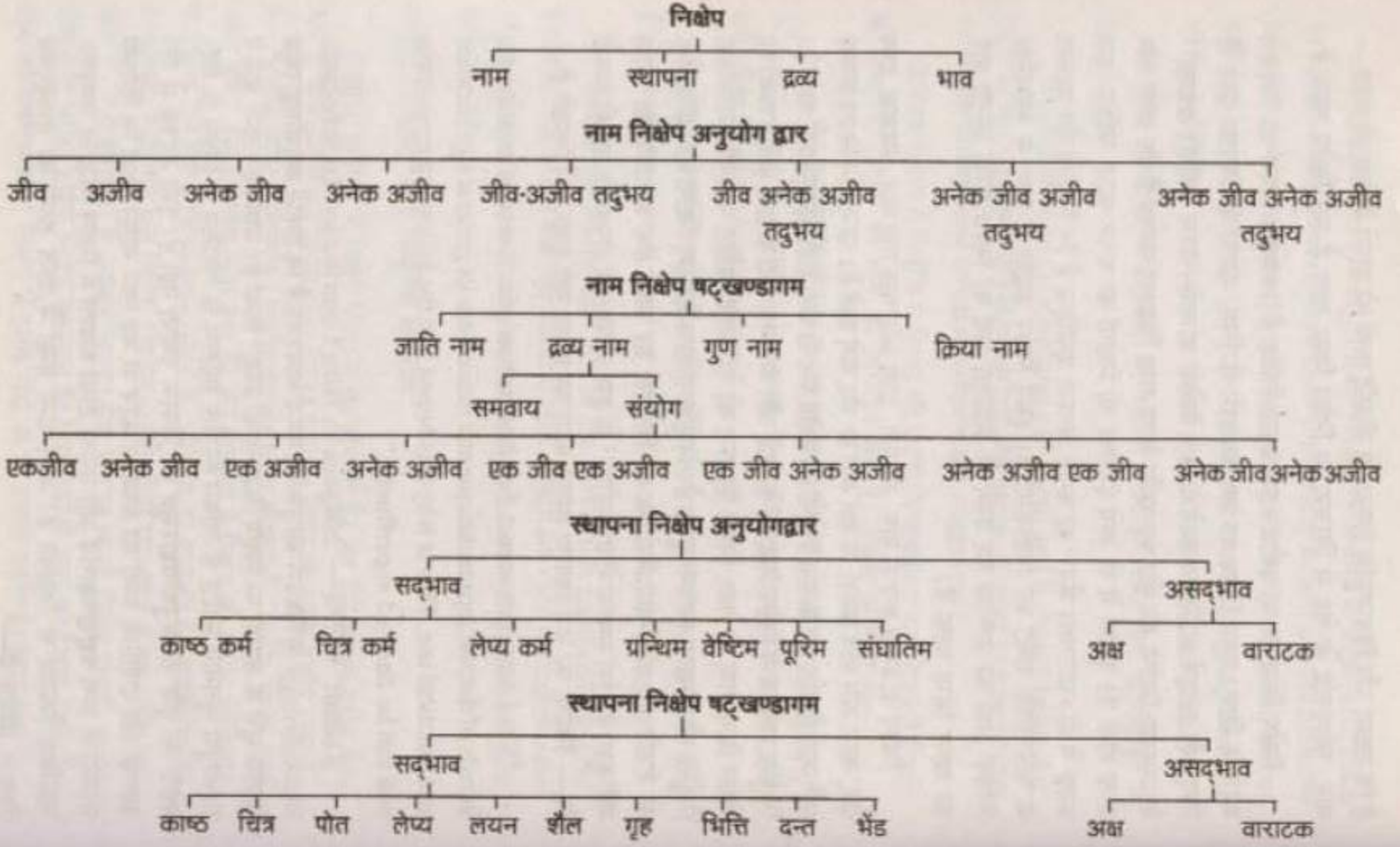
निक्षेप
नाम
स्थापना
द्रव्य
भाव
नाम निक्षेप अनुयोग द्वार
जीव
अजीव
अनेक जीव
अनेक अजीव
जीव-अजीव तदुभय
जीव अनेक अजीव तदुभय
अनेक जीव अजीव तदुभय
अनेक जीव अनेक अजीव तदुभय
नाम निक्षेप षट्खण्डागम
जाति नाम
द्रव्य नाम
गुण नाम
क्रिया नाम
समवाय
संयोग
एकजीव
अनेक जीव
एक अजीव
अनेक अजीव
एक जीव एक अजीव
एक जीव अनेक अजीव
अनेक अजीव एक जीव
अनेक जीव अनेक अजीव
स्थापना निक्षेप अनुयोगद्वार
सद्भाव
असद्भाव
काष्ठ कर्म
चित्र कर्म
लेप्य कर्म
ग्रन्थिम
वेष्टिम
पूरिम
संघातिम
अक्ष
वाराटक
स्थापना निक्षेप षट्खण्डागम
सद्भाव
असद्भाव
काष्ठ
चित्र
पोत
लेप्य
लयन
शैल
गृह
भित्ति
दन्त
भेंड
अक्ष
वाराटक

अनुयोग द्वार द्रव्य निक्षेप

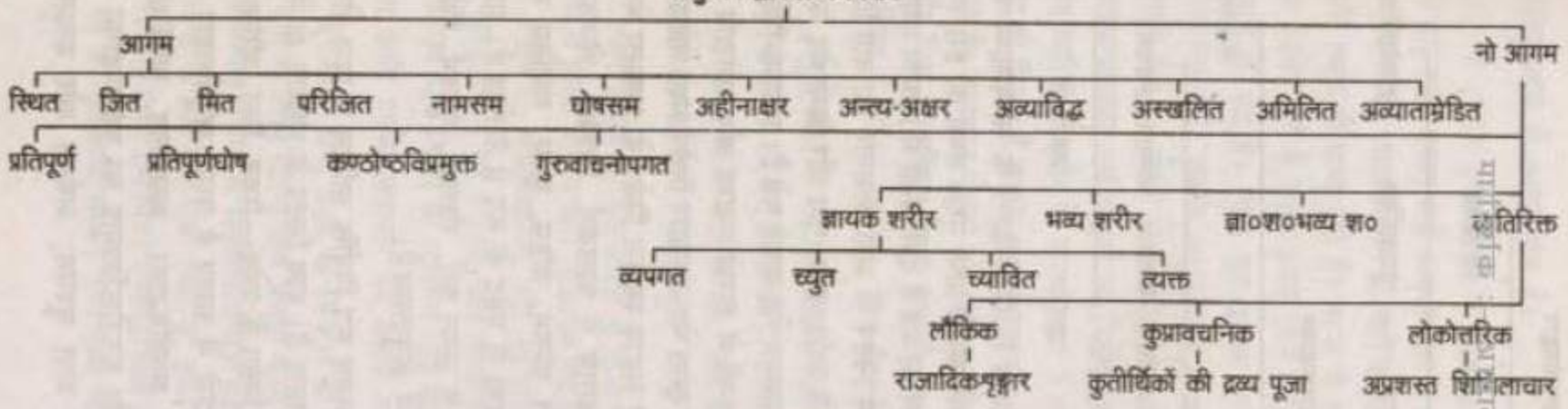

द्रव्य निक्षेप षट्खण्डागम, धवला

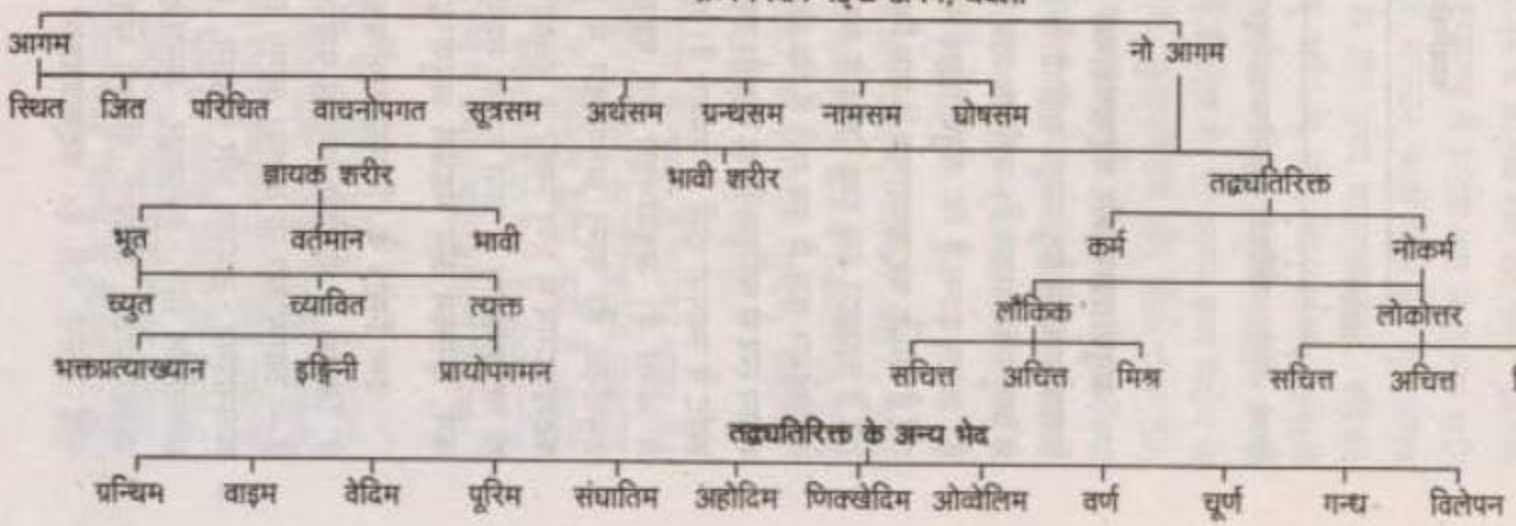

तद्व्यतिरिक्त के अन्य भेद

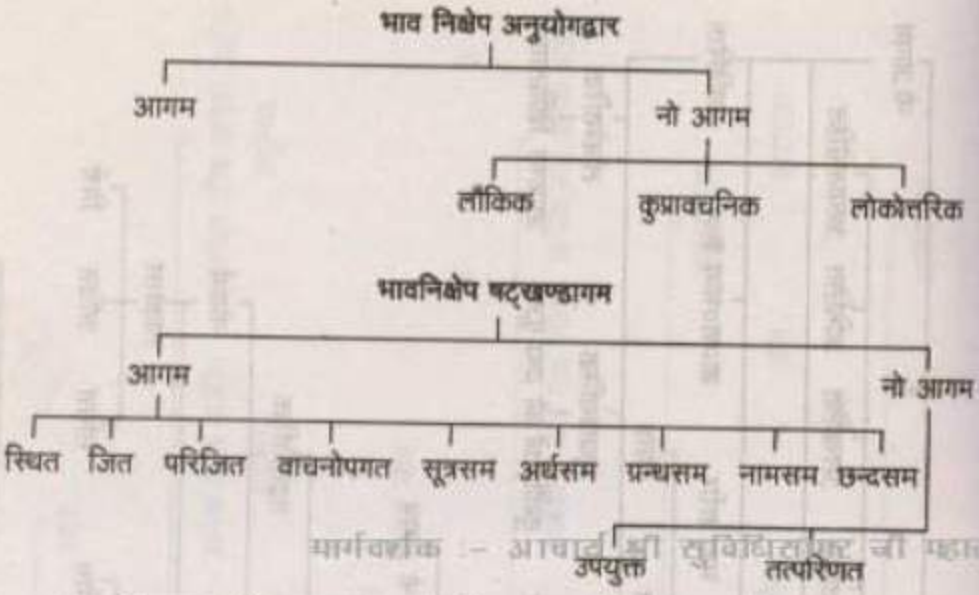

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अनुयोगद्वार और **षट्खण्डागम** में प्राप्त निक्षेप सिद्धान्त के साम्यासाम्य का दिग्दर्शन कराने हेतु प्रस्तुत सारिणी के अवलोकन से प्राप्त मुख्य तथ्यों को इस रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं। जहाँ तक नाम निक्षेप का प्रश्न है दोनों ग्रन्थों में विवरण समान है। अन्तर इतना है कि **अनुयोगद्वार** में नाम निक्षेप के आठ अवान्तर भेद बता दिये गये हैं जबकि **षट्खण्डागम** में नाम निक्षेप के जाति, द्रव्य, गुण और क्रिया भेद किये गये हैं तत्पश्चात् उक्त द्रव्य निक्षेप के आठ अवान्तर भेद बताये गये हैं। स्थापना-निक्षेप के विवेचन-क्रम में हम पाते हैं कि दोनों ग्रन्थों में इसको सद्भाव और असद्भाव में समान रूप से वर्गीकृत किया गया है। इसका दूसरा भेद-असद्भाव निक्षेप अक्ष, वाराटक आदि में स्थापना दोनों में समरूप है। परन्तु सद्भाव स्थापना निक्षेप के अवान्तर भेदों में अन्तर है। **अनुयोगद्वार** एवं **षट्खण्डागम** में काष्ठकर्म, चित्रकर्म, लेप्यकर्म उभयनिष्ठ हैं। परन्तु अनुयोगद्वार में प्राप्त ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम, संघातिम का षट्खण्डागम में द्रव्य निक्षेप के नोआगम द्रव्य के प्रभेद के रूप में उल्लेख है। साथ ही षट्खण्डागम में प्राप्त सद्भाव स्थापना के लयन कर्म, शैलकर्म, गृहकर्म, भित्ति कर्म, दन्तकर्म और भेंडकर्म अनुयोगद्वार में अनुपलब्ध हैं।

द्रव्य निक्षेप के, जिसका सर्वाधिक विस्तृत रूप निर्युक्ति साहित्य में प्राप्त होता है, विवरण में भी दोनों ग्रन्थों में पर्याप्त भिन्नता है। द्रव्य निक्षेप के मुख्यतः दो भेद हैं— आगम और नो आगम। आगम द्रव्य निक्षेप के प्रभेद—स्थित, जित, परिजित, वाचनोपगत, नामसम और घोषसम, ये दोनों में समान है परन्तु **अनुयोगद्वार** में उल्लिखित मित, अहीनाक्षर, अन्त्याक्षर, अव्याविद्धाक्षर, अस्खलित, अमिलित, अव्याताम्रेडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण घोष और कण्ठोष्ठविप्रमुक्त का **षट्खण्डागम** में कोई सूचना नहीं है। **षट्खण्डागम** में प्राप्त सूत्रसम, अर्थसम और ग्रन्थसम

अनयोगद्वार में अनुपस्थित है।

नो आगम द्रव्य निक्षेप के अवान्तर भेद—ज्ञायक, भव्य और व्यतिरिक्त दोनों में समान हैं। परन्तु जहाँ अनुयोगद्वार में ज्ञायक शरीर के चार उपभेद व्यपगत, च्युत, च्यावित और त्यक्त मिलते हैं, वहीं षट्खण्डागम में अन्तिम तीन भेद च्युत, च्यावित और त्यक्त ही प्राप्त होते हैं। परन्तु ये षट्खण्डागम में प्रत्यक्ष रूप से ज्ञायक शरीर के उपभेद नहीं हैं बल्कि इसके तीन भेदों भूत, वर्तमान, भावी में से एक भूत ज्ञायक शरीर के भेद हैं। त्यक्त भूत ज्ञायक शरीर के तीन प्रभेद भक्तप्रत्याख्यान, इङ्गिनी, प्रायोपगमन हैं, जबकि अनयोगद्वार में ज्ञायक शरीर के चारों भेद व्यपगत आदि ही बताये गये हैं। उनके अन्य प्रभेदों का कोई उल्लेख नहीं है। निर्युक्ति साहित्य में भी भक्तप्रत्याख्यान एवं इङ्गिनी का निक्षेप क्रम में उल्लेख है। नो आगम द्रव्य निक्षेप के भेद व्यतिरिक्त शरीर के अनुयोगद्वार में लौकिक, कुप्रावचिनक और लोकोत्तरिक तीन भेद ही मिलते हैं जबकि षट्खण्डागम में इसे पहले कर्म और नोकर्म में वर्गीकृत किया गया है। तत्पश्चात् नोकर्म को लौकिक और लोकोत्तर में, फिर दोनों को सचित्त, अचित्त और मिश्र में वर्गीकृत किया गया है। यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है कि निर्युक्ति साहित्य में सचित्त, अचित्त, मिश्र के भी नौ-नौ भेद किये गये हैं।

अनुयोगद्वार में सद्भाव स्थापना निक्षेप के क्रम में वर्णित ग्रन्थिम, वेष्टिम, पूरिम और संघातिम का षट्खण्डागम में द्रव्यनिक्षेप के विवरण क्रम में तद्व्यतिरिक्त शरीर के भेद के रूप में उल्लेख है। यहाँ इन चारों के अतिरिक्त वादिम, अहोदिम, णिक्खेदिम, उद्देलिम, वर्ण, चूर्ण, गन्ध और विलेपन भी वर्णित है।

भाव निक्षेप के भेद-प्रभेदों में दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में पर्याप्त अन्तर है। दोनों में इसके आगम और नोआगम भेद तो समान हैं किन्तु अनयोगद्वार में नोआगम को लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तरिक में वर्गीकृत किया गया है जबकि षट्खण्डागम में यह उपर्युक्त और तत्परिणत में वर्गीकृत किया गया है। अनुयोगद्वार में आगम भाव निक्षेप के अवान्तर भेदों का अभाव है जबकि षट्खण्डागम में स्थित, जित आदि इसके अवान्तर भेद बताये गये हैं।

इसप्रकार दोनों ग्रन्थों के विवरण के आधार पर निक्षेप सिद्धान्त के भेद-प्रभेदों की दृष्टि से उनमें साम्यासाम्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। निर्युक्ति साहित्य के अध्ययन से इस पर अतिरिक्त प्रकाश पड़ने की प्रबल सम्भावना है। निर्युक्ति साहित्य में शब्दों के निक्षेप में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चतुष्क निक्षेपों की प्रधानता है। साथ ही इसमें दस विध, एकादश विध और सत्रह विध निक्षेप से शब्दों की व्याख्या की गई है। उदाहरण स्वरूप उत्तर शब्द की व्याख्या सत्रह निक्षेपों के आधार पर की गई है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निक्षेप सिद्धान्त के भेद-प्रभेदों से निर्युक्ति की व्याख्या में अत्यधिक सहायता मिलती है। एक-एक शब्द का निक्षेप ३०-३० गाथाओं तक में हुआ है। जो गाथा, निक्षेप सिद्धान्त के भेद-प्रभेदों के ज्ञान के अभाव में अत्यन्त दुरूह प्रतीत होती है वही भेद-प्रभेदों के आलोक में अपेक्षाकृत सरल प्रतीत होने लगती है।

वर्तमान में उपलब्ध निर्युक्तियों में निक्षिप्त शब्दों का सरसरी तौर पर निक्षेप के भेद-प्रभेदों की दृष्टि से सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि यदि उक्त दृष्टि से निर्युक्ति-सामग्री का वर्गीकृत कर अध्ययन किया जाय तो निर्युक्ति की व्याख्या में बहुत सहायता मिलेगी और निर्युक्ति ही नहीं बल्कि निर्युक्ति-आधारित भाष्य और चूर्णि की व्याख्या का मार्ग भी सुगम हो जायगा।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति-संरचना

अन्य निर्युक्तियों की ही भाँति दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में भी निक्षेप, एकार्थ, निरुक्त और दृष्टान्त कथायें इसके घटक के रूप में विद्यमान हैं।

इस निर्युक्ति में आशातना, गणिसम्पदा, शरीरसम्पदा, सङ्ग्रहपरिज्ञा, भिक्षु, स्थापना, मोह, जाति और बन्ध शब्दों के निक्षेप किये गये हैं। इसीप्रकार ज्ञात, पर्युषणा और मोह शब्दों के एकार्थक इसमें प्राप्त होते हैं। निरुक्त की दृष्टि से वह स्थल उद्धृत किया जा सकता है जहाँ श्रावक ही उपासक है, श्रमण नहीं, इस तथ्य का निरूपण करते हुए कहा गया है— जिसके द्वारा सम्पूर्ण रूप से कार्य किया जाता है, वही कर्त्ता कहा जाता है।

जहाँ तक दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति में सङ्केतित दृष्टान्त कथाओं का प्रश्न है इसमें क्षमापना में कुम्भकार, उदायन चण्डप्रद्योत और चेट द्रमक का दृष्टान्त, चारों कषायों में क्रोध में मरुक, मान में अत्यहङ्कारिणी भट्टा, माया में साध्वी पाण्डुरार्या और लोभ में आर्यमङ्गु का दृष्टान्त निर्दिष्ट है। इस सम्बन्ध में विस्तार से विवेचन पुस्तक में यथास्थान आया हुआ है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति-प्रतिपाद्य

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में आदि मङ्गलाचरण के रूप में सम्पूर्ण श्रुतों के ज्ञाता, दशाश्रुत, कल्प और व्यवहार इन छेदसूत्रों के कर्त्ता प्राचीनगोत्रीय भद्रबाहु की वन्दना की गई है। विषय-निरूपण का प्रारम्भ दशा के निक्षेप से किया गया है। द्रव्य-निक्षेप की दृष्टि से दशा वस्तु की अवस्था है तो भाव-निक्षेप की दृष्टि से जीवन की अवस्था। जीवन अवस्था या आयु-विपाक के सन्दर्भ में सौ वर्ष की आयु को दस-दस वर्ष की दस दशाओं—अवस्थाओं में वर्गीकृत किया गया है। ये दस अवस्थायें हैं— बाला (एक से दस वर्ष), मन्दा (ग्यारह से बीस वर्ष), क्रीड़ा (२१-३० वर्ष), बला (३१-४०

वर्ष), प्रज्ञा (४१-५० वर्ष), हायनी (५१-६० वर्ष), प्रपञ्चा (६१-७० वर्ष), प्राग्भारा (७१-८० वर्ष), मन्मुखी (८१-९० वर्ष) और शायनी (९१-१०० वर्ष)। अध्ययन से तात्पर्य शास्त्र-विभाग से है और प्रस्तुत ग्रन्थ में दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों— असमाधि, शबल, आशातना, गणिगुण, मनःसमाधि, श्रावकप्रतिमा, भिक्षुप्रतिमा, पर्युषणाकल्प, मोह और निदान की क्रमशः निर्युक्ति की गई है। इसके उक्त अध्ययन दृष्टिवाद आदि पूर्वों से उद्धृत हैं। आचार का ज्ञाताधर्म आदि छः अङ्गों में विस्तृत तथा दशाश्रुतस्कन्ध के इन अध्ययनों में संक्षिप्त निरूपण उपलब्ध होता है।

निर्युक्ति की प्रस्तावना रूप आठ गाथाओं के पश्चात् असमाधि (गाथा ९-११), शबल (१२-१४), आशातना (१५-२४), गणिगुण या गणिसम्पदा (२५-३१), मनः समाधि (३२), श्रावकप्रतिमा (३३-४३), भिक्षुप्रतिमा (४४-५१), पर्युषणाकल्प (५२-११८), मोह (११९-१२६) और निदान अध्ययन (१२७-१४१) की निर्युक्ति है।

प्रथम 'असमाधि' अध्ययन में समाधि का द्रव्य और भाव की दृष्टि से तथा इसके २० अतिशयों या स्थानों का निर्देश है। समाधि-प्राप्ति में सहायक द्रव्य या वस्तु-विशेष द्रव्यसमाधि ओर प्रशस्त योग द्वारा प्राप्त होने वाली जीव की सुसमाहित अवस्था भाव समाधि है। समाधि की विपरीत अवस्था असमाधि है।

द्वितीय 'शबल अध्ययन' में शबल और शबलता अर्थात् चारित्र को दूषित करने वाले शिथिलाचारों का निर्देश है। चारित्र का दूषित होना या चारित्र पर दाग, धब्बा या कलङ्क लग जाना जैसे कि चितकबरा बैल आदि यह द्रव्य शबल है। शबलत्व में चारित्र सर्वथा दूषित नहीं होता बल्कि अंश रूप में भ्रष्ट होता है। जिस प्रकार कम या अधिक खण्डित घड़ा, खण्डित ही कहा जायगा उसीप्रकार चारित्र की अंशतः विराधना, चाहे जिस भी मात्रा में हो, वह शबल विराधना कही जाती है।

तृतीय अध्ययन 'आशातना' में इसके मिथ्याप्रतिपादन और मिथ्याप्रतिपत्तिलाभ दो भेद बताये गये हैं। पुनः इन दोनों का छः निक्षेपों— नाम, स्थापना, द्रव्य, काल, क्षेत्र और भाव से प्रतिपादन है। मिथ्याप्रतिपादन और मिथ्याप्रतिपत्तिलाभ आशातनाओं का द्रव्य,क्षेत्र, काल और भाव निक्षेप की दृष्टि से इष्ट और अनिष्ट रूप में निरूपण है। उदाहरणस्वरूप चोरों द्वारा हृत उपधि की साधु द्वारा पुनर्ग्रहण अनिष्ट द्रव्याशातना तथा उद्गम, उत्पादन आदि दोष से युक्त उपधि का साधु को प्राप्ति इष्ट द्रव्याशातना है। सचित्त आदि द्रव्यों का अरण्य आदि में प्राप्त होना अनिष्ट क्षेत्र और ग्रामादि में प्राप्त होना इष्ट क्षेत्र मिथ्याप्रतिपादन आशातना है। द्रव्यादि की दुर्भिक्ष में प्राप्ति अनिष्ट काल और सुभिक्ष में प्राप्ति इष्ट काल मिथ्याप्रतिपादन आशातना है। जो संयम और तप में तत्पर हों उनके विषय में वह नहीं करता है, अशक्य है या कम करता है, इसप्रकार अपनी उत्कृष्टता का कथन भावदृष्टि से मिथ्याप्रतिपादन आशातना है।

इसीप्रकार इष्ट और अनिष्ट मिथ्या प्रतिपत्ति आशातना का भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से निरूपण है। प्राप्त द्रव्य का परिमाण उचित होने पर इष्ट, कम या अधिक होने पर अनिष्ट द्रव्य मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना होती है। सम्यक्रूप से दिया गया द्रव्य इष्ट और असम्यक् रूप से द्रव्य अनिष्ट। द्रव्य की प्राप्ति और प्रदान सुक्षेत्र में हो तो इष्ट और विक्षेत्र में हो तो अनिष्ट, मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना है। औदयिक आदि छः प्रकार के भावों के कारण भी मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना छः प्रकार की होती है। उपसर्गों से भी अकस्मात् आशातना होती है।

छेदसूत्र दशाश्रुतस्कन्ध में वर्णित गुरु सम्बन्धी आशातना के निमित्तों का यदि अकारण आचरण किया जाय तो उससे गम्भीर कर्मों का बन्ध होता है। कारण उपस्थित होने पर इन आशातनाओं का आचरण करने वाला गम्भीर कर्म का बन्ध नहीं करता है। श्रमण को गुरु की आशातना से बचना चाहिए। इस अध्ययन की विषय-वस्तु को सरलता से स्पष्ट करने के लिए सारिणी द्वारा प्रस्तुत किया गया है। (पृ०सं० ७१)

चतुर्थ अध्ययन 'गणिसम्पदा' में गणि को द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार का निर्दिष्ट किया गया है। द्रव्यगणि अर्थात् गणि का संसारी शरीर और भावगणि से तात्पर्य गणि का आचारसम्पदा आदि गुणों से युक्त होना है। गणि का मुख्य गुण सङ्ग्रह और उपकार करना तथा धर्मज्ञ होना है। गणि द्वारा गण-सङ्ग्रह द्रव्य और भाव दो दृष्टियों से होता है। द्रव्य अपेक्षा से शिष्यों के लिए वस्त्रादि सङ्ग्रह और भाव अपेक्षा से शिष्यों के लिए ज्ञानादि का संग्रह। इसी प्रकार गणि गणोपकारक भी द्रव्य और भाव दोनों अपेक्षा से होता है। द्रव्योपग्रह से अभिप्राय आहारादि द्वारा कृपा और भावोपग्रह का अर्थ रुग्ण, वृद्धादि का संरक्षण रूप है। गणिधर्म अर्थात् गणिस्वभाव को जानने वाला गणि कहा जाता है। द्रव्यगण अर्थात् गच्छ और भावगण अर्थात् ज्ञानादि को धारण करने में समर्थ को गणि कहा जाता है। सम्पदा नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव निक्षेप से छः प्रकार की होती है। द्रव्य दृष्टि से गणि की सम्पदा शरीर है। औदयिकादि छः प्रकार के भाव भाव-सम्पदा हैं। आठवीं गणि सम्पदा सङ्ग्रहपरिज्ञा भी नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से छः प्रकार की होती है।

पर्वत, कन्दरा, शिलाखण्डों आदि विषम स्थानों पर अपने शरीर पर उगे हुए दाँतों को बिना खिन्न हुए वहन करने वाले गज की भाँति गणि भी जिनभक्त, साधर्मिक तथा असमर्थों को विषम क्षेत्र और दुष्काल में सरलतापूर्वक वहन करता है।

पञ्चम अध्ययन 'मनःसमाधि' की निर्युक्ति मात्र एक गाथा में है। इस अध्ययन को श्रेणि-अध्ययन भी कहा जाता है। इसमें उपासक के चार भेद—द्रव्य, तदर्थ, मोह और भाव निर्दिष्ट हैं।

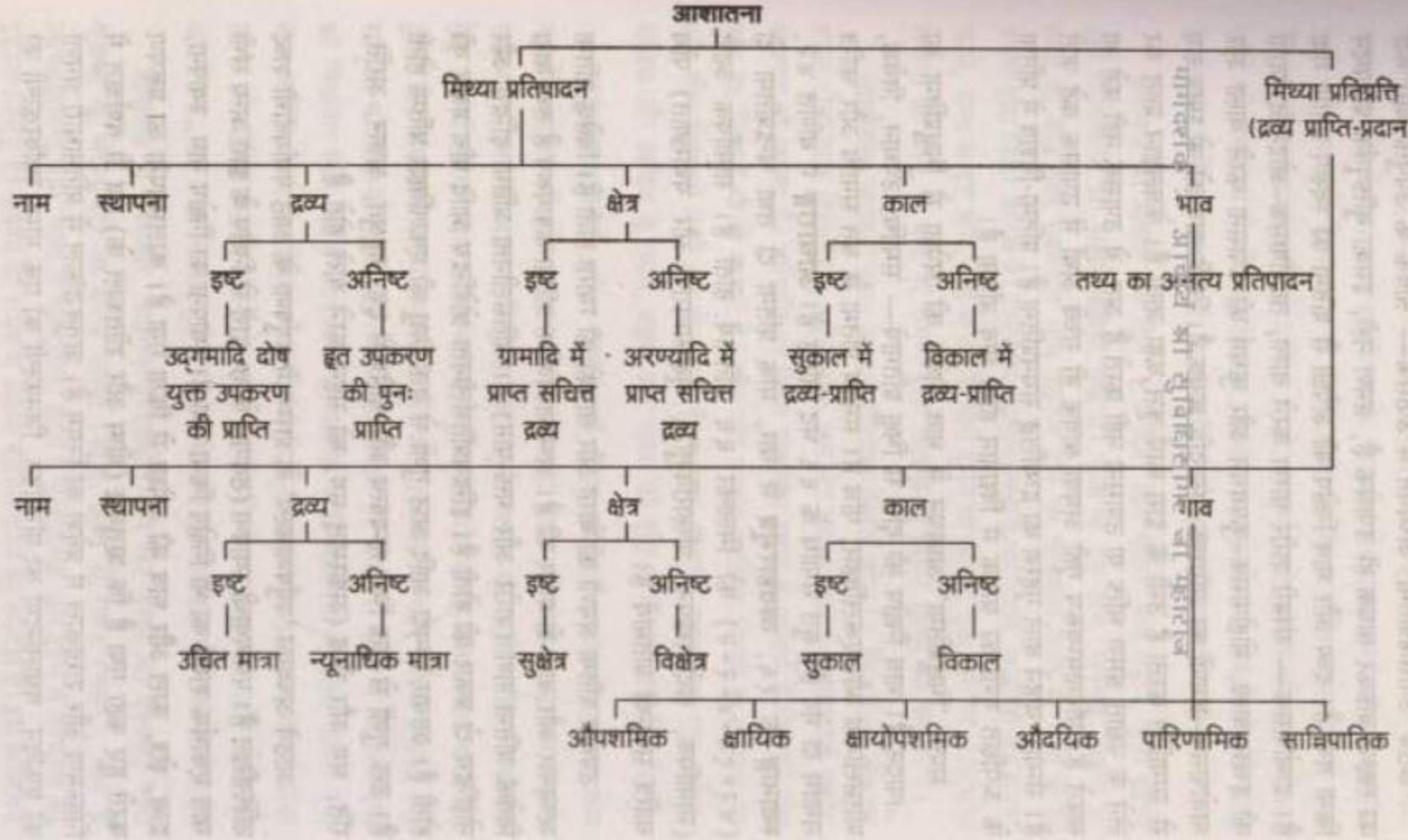
आशातना
मिथ्या प्रतिपादन
मिथ्या प्रतिप्रत्ति
(द्रव्य प्राप्ति-प्रदान)
नाम
स्थापना
द्रव्य
क्षेत्र
काल
भाव
इष्ट
अनिष्ट
इष्ट
अनिष्ट
इष्ट
अनिष्ट
तथ्य का असत्य प्रतिपादन
उद्गमादि दोष युक्त उपकरण की प्राप्ति
हृत उपकरण की पुनः प्राप्ति
ग्रामादि में प्राप्त सचित्त द्रव्य
अरण्यादि में प्राप्त सचित्त द्रव्य
सुकाल में द्रव्य-प्राप्ति
विकाल में द्रव्य-प्राप्ति
नाम
स्थापना
द्रव्य
क्षेत्र
काल
भाव
इष्ट
अनिष्ट
इष्ट
अनिष्ट
इष्ट
अनिष्ट
उचित मात्रा
न्यूनाधिक मात्रा
सुक्षेत्र
विक्षेत्र
सुकाल
विकाल
औपशमिक
क्षायिक
क्षायोपशमिक
औदयिक
पारिणामिक
सान्निपातिक

छठवें 'उपासकप्रतिमा' अध्ययन में उपासक— श्रावक के उपर्युक्त चारों भेदों का लक्षण बताकर श्रावक ही उपासक है, श्रमण नहीं, इसका युक्तिपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। द्रव्य और भाव निक्षेप की अपेक्षा से प्रतिमा का स्वरूप बताया गया है। द्रव्योपासक— ससारी शरीर धारण करने वाला, तदर्थोपासक–ओदनादि पदार्थों की इच्छा वाला, मोहोपासक–कुप्रवचन और कुधर्म की उपासना करने वाला और भावोपासक–श्रमणों का आराधक सम्यग्दृष्टि श्रावक है। किसी कार्य को जो समग्र रूप से सम्पादित करता है उसी के द्वारा कार्य कृत कहा जाता है। केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् श्रमण भक्ति या उपासना नहीं करते हैं अत: वे उपासक नहीं कहे जा सकते हैं। परिणामस्वरूप गृही अथवा श्रावक ही सच्चे अर्थों में उपासक कहे जाते हैं। संन्यास चाहने वाले गृहस्थ का द्रव्यलिङ्ग संयमप्रतिमा है। प्रतिमा-विशेष में प्रतिमा के अपेक्षित गुणों का श्रावक में विद्यमान होना भाव प्रतिमा है।

सप्तम 'भिक्षुप्रतिमा' अध्ययन में भाव निक्षेप की अपेक्षा से भिक्षुप्रतिमा का ..पादन है। भाव निक्षेप की दृष्टि से भिक्षु प्रतिमायें— समाधि, उपधान, विवेक, प्रतिसंलीनता और एकलविहार, पाँच हैं। समाधि प्रतिमा के श्रुत समाधि और चारित्र समाधि दो भेद हैं। श्रुत समाधि के ६६ भेद निर्दिष्ट हैं। **आचाराङ्ग** में वर्णित ४२, **स्थानाङ्ग** के १६, **व्यवहारसूत्र** में चार, मोक प्रतिमा दो तथा चन्द्रप्रतिमा दो (४२+१६+४+२+२) को मिलाकर ६६ प्रतिमायें होती हैं। सामायिक आदि (सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात) पाँच चारित्र सम्बन्धी प्रतिमायें हैं।

उपधान प्रतिमा श्रमणों की बारह और श्रावकों की ग्यारह होती हैं। विवेक प्रतिमा अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार की है। अभ्यन्तर विवेक प्रतिमा कषायरूप है तथा बाह्य विवेक प्रतिमा गण (शरीर और भक्त-पान) है। प्रतिसंलीनता प्रतिमा इन्द्रिय और नोइन्द्रिय दो प्रकार की होती है। इन्द्रियप्रतिसंलीनता श्रोत्रेन्द्रिय आदि पाँच प्रकार की होती है। आचार सम्पदा आदि आठ गुणों से युक्त भिक्षु की एकलविहार प्रतिमा होती है। उक्त गुणों से युक्त भिक्षु सम्यक्त्व और चारित्र में दृढ़, बहुश्रुत, अचल, अरति, रति, भय और भैरव (अकस्मात् भय) को सहन करने वाले होते हैं।

आठवें अध्ययन 'पर्युषणाकल्प' के प्रारम्भ में पर्युषणा के आठ पर्यायवाची शब्द उल्लिखित हैं। पर्यायवाची स्थापना (ठवणा) के छ: द्वारों से निक्षेप के द्वारा अन्य सभी सात एकार्थक शब्दों का भी निक्षेप किया गया है। स्थापना का निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया गया है। कालस्थापना का प्ररूपण करते हुए कहा गया है कि ऋतुबद्ध (ग्रीष्म और शीतकाल के) क्षेत्र से वर्षाऋतु में निष्क्रमण और शरदकाल में प्रवेश का नियम है। ऋतुबद्धकाल में प्रतिमाधारी श्रमणों को एकदिन, यथालन्दियों को पाँच दिन, जिनकल्पी को एक मास, स्थविरकल्पी को

सामान्यत: एक मास तक तथा विशेष परिस्थिति होने पर एक मास से कम या अधिक समय एक क्षेत्र में वास करने का नियम है। चातुर्मास क्षेत्र ग्रहण करने की स्वीकारोक्ति करने और न करने के सम्बन्ध में भी कालस्थापना के अन्तर्गत विचार किया गया है। चातुर्मास आरम्भ करने से अधिक पहले, चातुर्मास क्षेत्र ग्रहण की बात स्वीकार करने की स्थिति में किसी प्राकृतिक या मानवीय कारणों से उक्त क्षेत्र-विशेष से साधु के विहार करने पर श्रावकों में इसकी गरिमा की क्षति की सम्भावना है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वर्षावास की अवधि ७० दिन, ८० दिन, तीन महीने, चार महीने, पाँच महीने और अधिकतम छ: महीने बतायी गयी है। राजा के दुष्ट होने, सर्पभय, श्रमण के रुग्ण हो जाने और स्थण्डिल भूमि अप्राप्य होने पर चातुर्मास काल के मध्य में ही श्रमण द्वारा विहार कल्प्य है। इसीप्रकार अकल्याणकारी परिस्थिति, ऊनोदरी व्रत धारण करने, राजा के दुष्ट होने, वर्षा न रुकने, मार्ग दुर्गम या कीचड़ युक्त होने पर, चातुर्मास समाप्त हो जाने के बाद भी श्रमण द्वारा विलम्ब से विहार किया जा सकता है।

सामान्यत: चातुर्मास स्थल के चारों दिशाओं में ढाई कोस (८ कि०मी०) तक इस प्रकार दोनों तरफ मिलाकर १६ कि०मी० तक क्षेत्र मर्यादा होती है। कारणवश इसका अपवाद हो सकता है। पर्वतादि पर स्थित चातुर्मास स्थल के सन्दर्भ में क्षेत्र की पाँच और छ: दिशायें भी हो सकती हैं। गाँव यदि उपवन आदि के किनारे हो तो एक, दो और तीन दिशाओं में ही क्षेत्र हो सकता है। आहार, विकृति, संस्तारक, पात्र, लोच, सचित्त और अचित्त के त्याग, ग्रहण और धारण की दृष्टि से द्रव्यस्थापना निरूपित है।

ऋतुबद्ध काल की अपेक्षा चातुर्मास में आहार की मात्रा क्रमश: यथासम्भव कम कर देनी चाहिए। विकृति प्रशस्त और अप्रशस्त दो प्रकार की होती है। प्रशस्त विकृति सामान्यत:, जबकि अप्रशस्त विकृति कारण पूर्वक ग्रहण की जानी चाहिए। वर्षावास हेतु नया संस्तारक ग्रहण करना चाहिए। गुरु दूसरों को भी संस्तारक प्रदान करते हैं, अत: तीन संस्तारक ग्रहण कर सकते हैं। उच्चार, प्रस्रवण और श्लेष्म (कफ) हेतु साधुओं को तीन-तीन पात्र ग्रहण करने का विधान है। वर्षावास काल में जिनकल्पियों को नियमित लोच करना आवश्यक है, जबकि स्थविरकल्पियों के लिए केवल एक बार। सचित्त-त्याग के परिप्रेक्ष्य में निर्दिष्ट है कि पूर्वदीक्षित और श्रद्धावान् के अतिरिक्त अन्य को दीक्षित करना वर्जित है। पाँच समितियों के पालन, गुण और दोषों की आलोचना, पाप न करने और पूर्व में किये गये पापों का प्रायश्चित्त करने का उपदेश है।

क्षमापना में कुम्भकार, उदायन-चण्डप्रद्योत और चेट-द्रमक का दृष्टान्त, चारों कषायों के भेद-प्रभेदों का उपमा सहित निर्देश, क्रोध में मरुक (मरुत), मान में अत्यहङ्कारिणी भट्टा, माया में पाण्डुरार्या, क्रोध में भृत्य द्रमक और लोभ में आर्यमङ्गु का दृष्टान्त निर्दिष्ट है। श्रमणों को संयम में आत्मा योजित करने का उपदेश है। इस अध्ययन

इस अध्ययन में प्ररूपित सामग्री को सारिणी द्वारा निम्न रूप में व्यक्त कर सकते हैं-

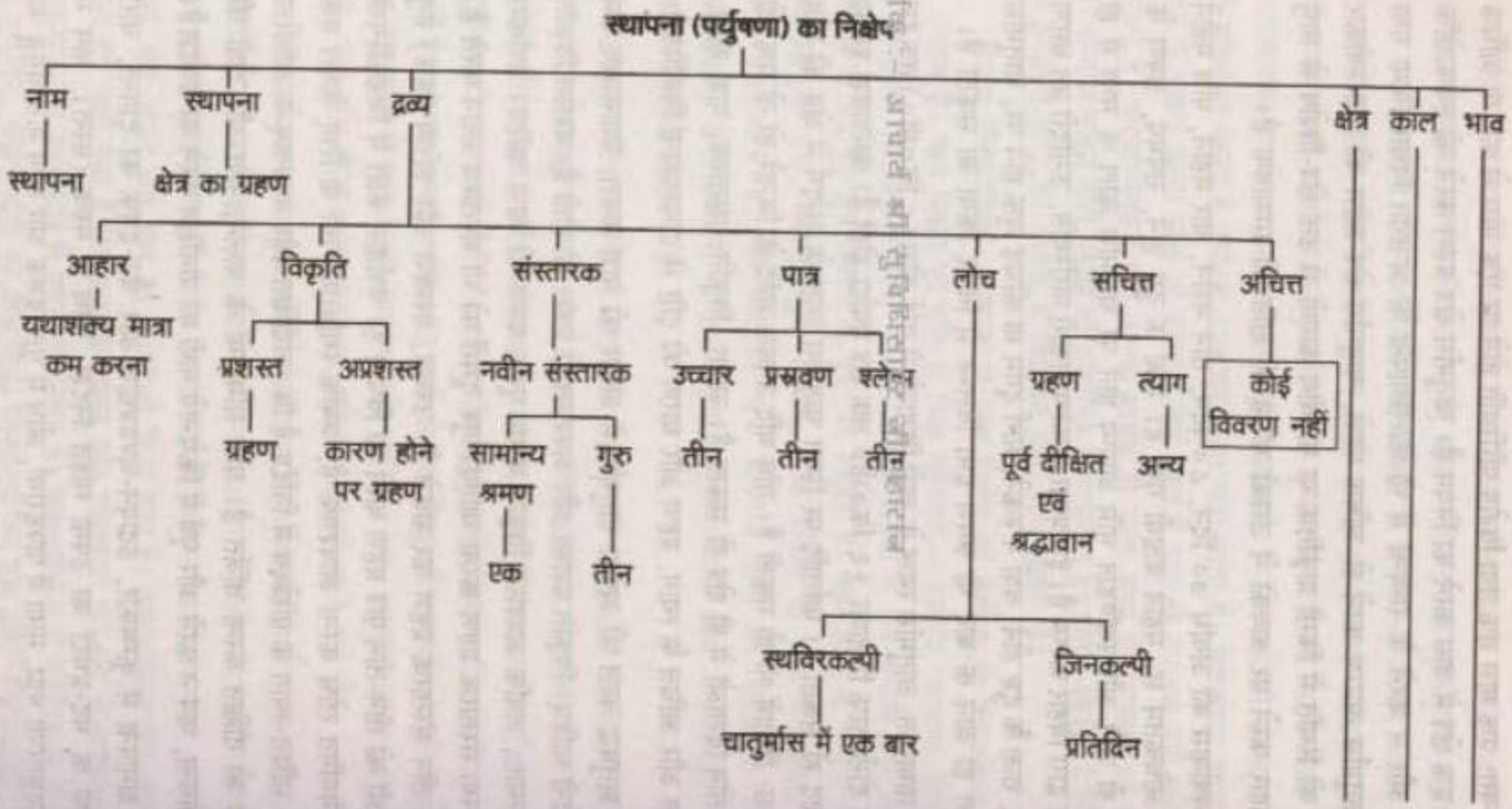

दिशा
सामान्य
चार दिशा
विशेष
अधिक
पाँच, छः (पर्वतादि पर)
न्यून
एक से तीन
दूरी
सामान्य
विशेष
उपवन, छिन्नमण्डव
ऋतुबद्ध विहार
सामान्य
आठ मास
विशेष
न्यून
6 माह, सात माह
अतिरिक्त
९ माह बीस दिन
९ माह दस दिन
९ माह
पर्युषणा स्थापना
(चातुर्मास काल)
सामान्य
चार माह
विशेष
न्यून
70, 80, 90,110
अतिरिक्त
पाँच माह,
छः माह
समिति पालन
गुप्ति पालन
आलोचन

के अन्त में उपदेश दिया गया है कि ज्ञानार्थी, तपस्वी तथा असहनशील को, अनवरत बरसात होने पर भी, यतनापूर्वक गोचरी ग्रहण करनी चाहिए।

नवम 'मोहनीय' अध्ययन में मोह का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों में से द्रव्य और भाव निक्षेप द्वारा कथन करने का निर्देश है। द्रव्य निक्षेप से मोह सचित्त और अचित्त दो प्रकार का है। सचित्त मोह धातु, गो, अन्नादि और अचित मोह गृह, धन आदि है। भाव मोह सङ्घात या सामान्य और विभाग रूप दो प्रकार का होता है। भाव मोह सङ्घात दृष्टि से एक प्रकृति और विभाग दृष्टि से अनेक प्रकृति होता है। इसे निम्न सारिणी द्वारा इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—

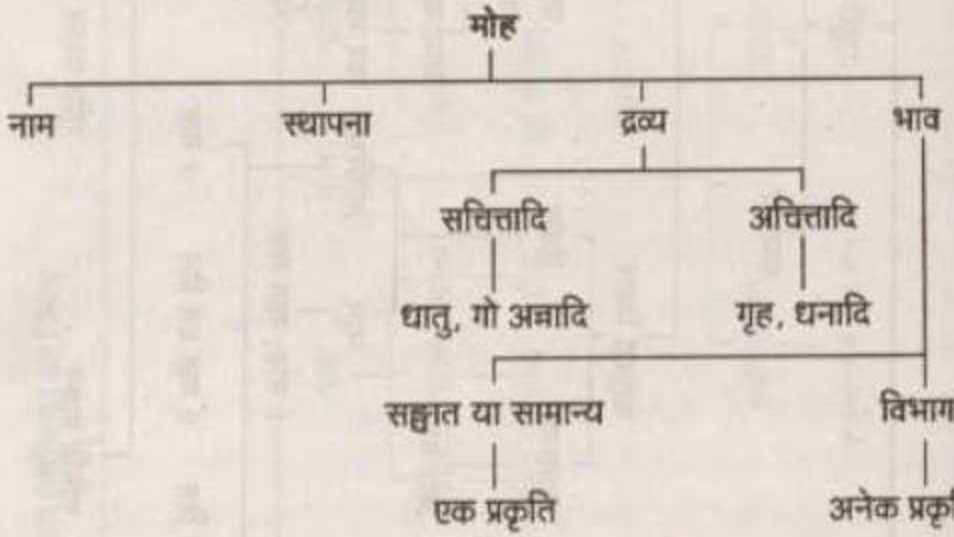

कर्मप्रवाद में वर्णित अष्टविधकर्म ही संक्षेप में मोह कहा गया है। उसके अनेक एकार्थक हैं। तीर्थङ्करों के अनुसार साधु, गुरु, मित्र, बान्धव, श्रेष्ठि और सेनापति के वध में गुरुबन्ध या महाबन्ध है। साधु को गुरु की आशातना और जिनवचनों का विलोपन, हनन या व्याघात नहीं करना चाहिए।

दशम 'निदान' अध्ययन के आरम्भ में नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव निक्षेपों में से भाव-निक्षेप द्वारा आयति का कथन करने का निर्देश है। द्रव्य-निक्षेप से, जाति या उत्पत्ति, उत्पन्न द्रव्य का स्वभाव है जबकि भावनिक्षेप से यह उत्पत्ति रूप अनुभवन है। निदानकृत कर्मफल का भोग-ओघ या सामान्य और विभाग–दो प्रकार का बताया गया है। ओघ अनुभवन से अभिप्राय सांसारिक जीवों की उत्पत्ति और मरण है। विभाग अनुभवन औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक छः भाव रूप है। इसी क्रम में उत्पत्ति के तीन भेद बताये गये हैं— जाति, आजाति और प्रत्याजाति। सांसारिकों की नरकादि गतियों में उत्पत्ति जाति है। संमूर्च्छ, अगर्भ, उपपात आदि अन्य प्रकार से जन्म आजाति है। जिस भव से जीव च्युत हुआ है, उसी भव में उसका पुनर्जन्म प्रत्याजाति है और यह केवल मनुष्य और तिर्यञ्च की है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इस अध्ययन में बन्ध का द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव निक्षेप से वर्णन है। द्रव्य बन्ध दो प्रकार का होता है— प्रयोगबन्ध और विस्रसाबन्ध। प्रयोग बन्ध मूल और उत्तर दो प्रकार का होता है। मूलबन्ध के दो भेद होते हैं— शारीरिक और अशारीरिक। नूपुर या वेणी उत्तरबन्ध है। विस्रसाबन्ध सादिक और अनादिक दो प्रकार का है। निक्षेप की दृष्टि से भाव बन्ध जीव और अजीव दो प्रकार का होता है। ये दोनों भाव तीन-तीन प्रकार के होते हैं— विपाक से बन्ध, अविपाक से बन्ध और तदुभय बन्ध। क्षेत्र और काल का निक्षेप-दृष्टि से विचार करते हुए कहा गया है— जिस क्षेत्र में बन्ध हो वह क्षेत्र बन्ध और जिस काल में बन्ध हो वह काल बन्ध है। भावनिक्षेप से निदान में कषाय बन्ध अधिकार अनेक विधियों और अर्थों में होता है। भाव निदान इहलौकिक और पारलौकिक दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत अध्ययन में पारलौकिक बन्ध का कथन है। निदान-दोष के कारण श्रमण का भव-भ्रमण अवश्यम्भावी बताया गया है। श्रमण जन्म-मरण से मुक्त कैसे होता है? और भव-भ्रमण क्यों करता है? इस परिप्रेक्ष्य में निर्दिष्ट है कि अदूषित मूल और उत्तरगुण वाला, सदा संसार में अनासक्त, भक्त (आहार), उपधि और शय्यासन में सदा शुद्धता और एकान्त का सेवन करने वाला तथा सदा अप्रमत्त मोक्षगामी होता है। तीर्थङ्कर, गुरु और साधु में भक्ति युक्त इन्द्रियजयी प्रायः सिद्ध होता है। तद्विपरीत, विषयाभिलाषी और असंयत को मोक्ष नहीं होता, निदान करने वाले निश्चित् रूप से इस संसार में आते हैं। निदान दोष के कारण संयम मार्ग पर प्रयत्नशील भी श्रमण निश्चित रूप से उत्पत्ति या जन्म पाता है या संसार प्राप्त करता है। अतः अनिदान श्रेयस्कर है।

सुविधा के लिए बन्ध और आयति को निम्न सारिणी द्वारा व्यक्त कर सकते हैं—

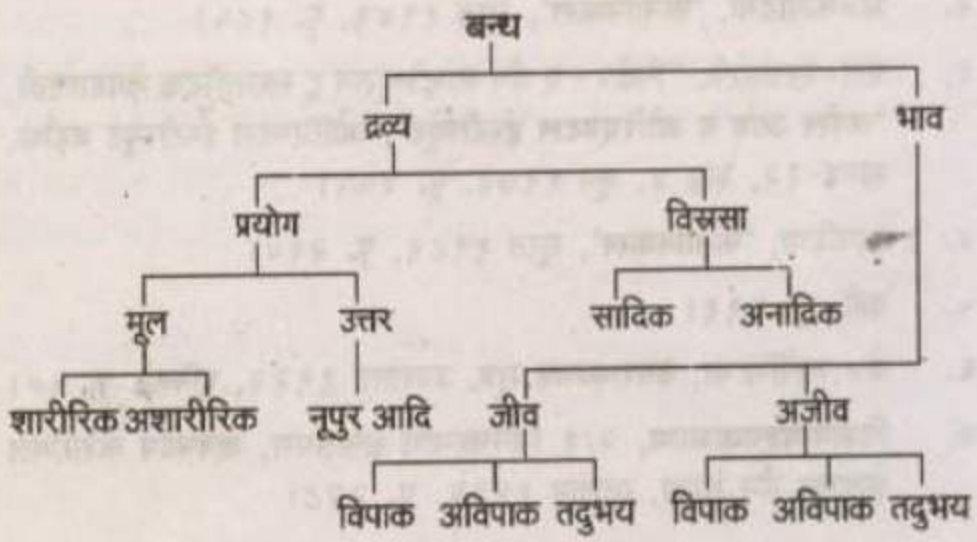

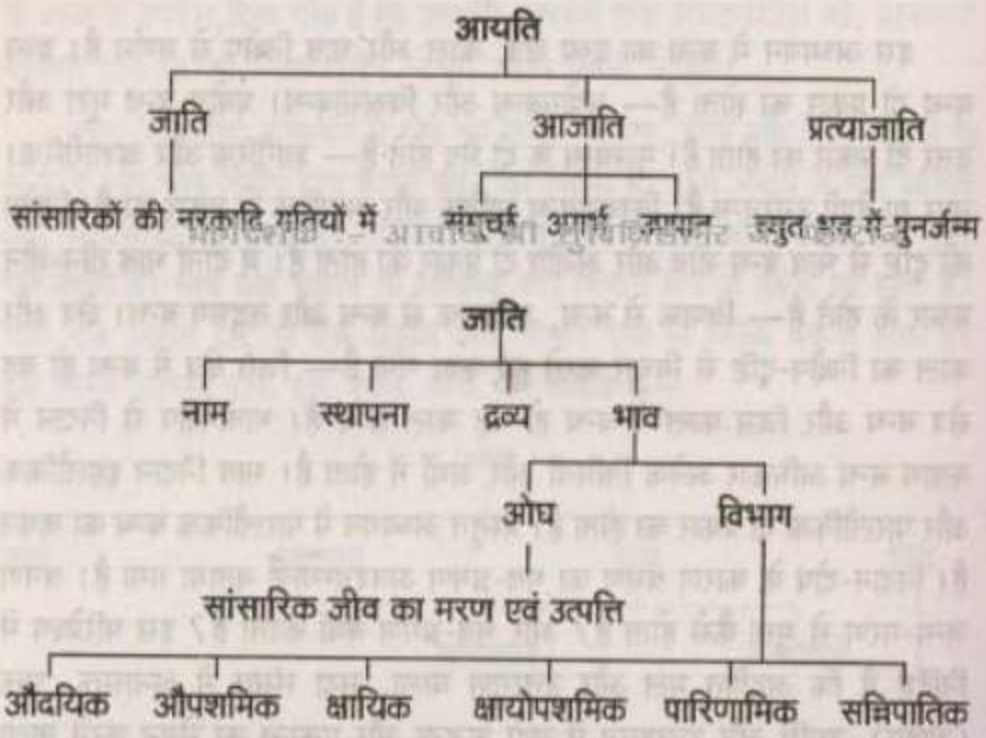

इसप्रकार संक्षेप में दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति की विषय-वस्तु और तत्सम्बद्ध अन्य विवरण प्रस्तुत है।

●

सन्दर्भ :

१. दशवैकालिकनिर्युक्ति - **'निर्युक्तिसंग्रह'** हर्षपुष्पामृत, लाखाबावल १९८९, पृ० ३२८ एवं ३६१।

२. प्रो०कापडिया, **'कैनानिकल'**, सूरत १९४१, पृ० १८५।

३. एल०एल्सडोर्फ, "निक्षेप - ए जैन कान्ट्रीब्यूशन टू स्कालस्टिक मेथडालाजी, **'जर्नल आव द ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट'**, ओरिएण्टल इंस्टीच्यूट बड़ौदा, खण्ड-२२, अङ्क ४, जून १९७३, पृ० ४५५।

४. कापडिया, **'कैनानिकल'**, सूरत १९८९, पृ० २१०।

५. वही, पृ० २११।

६. जे०,शार्पेण्टियर, **उत्तराध्ययन सूत्र,** उपशाला १९२२, भूमिका, पृ० ५०।

७. **विशेषावश्यकभाष्य,** २/१ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर जैन संस्था, रतलाम १९३६, पृ० २२८।

८. **सर्वार्थसिद्धि,** ६/९, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५५।

९. **तत्त्वार्थवार्तिक,** (२/१), अध्याय १/५७, अकलङ्कदेव, भारतीय ज्ञानपीठ काशी १९५३।

१०. **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य,** स्वोपज्ञ उमास्वाति, १/५, दे०ला०पु०फण्ड, बम्बई १९२५।

११. **षट्खण्डागम** (धवला सहित, ३/१,२), सं०जैन एवं उपाध्ये, सोलापुर १९७३।

१२. प्रो०सागरमल जैन, **'जैन भाषा दर्शन'**, बी०एल०इंस्टीच्यूट ऑव इण्डोलाजी, दिल्ली १९८६, पृ० ७७।

१३. एल०; अल्सडोर्फ, पूर्वोक्त, पृ० ४५५।

१४. **अनुयोगद्वारसूत्र,** १४-१७, सं० मधुकरमुनि, जिनागम ग्रन्थमाला, सं०२८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर १९८७।

१५. **षट्खण्डागम** (धवला), द्रष्टव्य- **जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश,** भाग २, सं० जिनेन्द्रवर्णी, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्र०मा० : संस्कृत ग्रं० ४०, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली (तृ०सं०) १९९२, पृ० ५८९-६०१।

तृतीय अध्याय

छन्द-दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : पाठ-निर्धारण

छन्द की दृष्टि से दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति के अध्ययन से पूर्व इसकी गाथा संख्या पर विचार कर लेना आवश्यक है। इस निर्युक्ति के प्रकाशित संस्करणों एवं जैन विद्वानों के विद्वानों द्वारा प्रदत्त इसकी गाथा संख्या में अन्तर है। इसके दो प्रकाशित संस्करण उपलब्ध हैं— मूल और चूर्णि सहित मणिविजयगणि ग्रन्थमाला, भावनगर १९५४ संस्करण[1] और **'निर्युक्तिसङ्ग्रह'** शीर्षक के अन्तर्गत सभी उपलब्ध निर्युक्तियों के साथ विजयजिनेन्द्रसूरि द्वारा सम्पादित लाखाबावल १९८९ संस्करण।[2]

भावनगर संस्करण में गाथाओं की संख्या १४१ और लाखाबावल संस्करण में १४२ है। जबकि वास्तव में लाखाबावल संस्करण में भी १४१ गाथायें ही हैं। प्रकाशन-त्रुटि के कारण क्रमाङ्क १११ छूट जाने से गाथा क्रमाङ्क ११० के बाद ११२ मुद्रित है। फलतः गाथाओं की संख्या १४१ के बदले १४२ हो गई है, जो गलत है। अधिक सम्भावना यही है कि लाखाबावल संस्करण का पाठ, भावनगर संस्करण से ही लिया गया है। इसलिए भी गाथा संख्या समान होना स्वाभाविक है।

'Government Collections of Manuscripts'[3] में एच०आर०कापडिया ने इसकी गाथा संख्या १५४ बताई है। **'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास'**[4] भाग-१ में भी इसकी गाथा सं० १५४ है। **'जिनरत्नकोश'**[5] में यह संख्या १४४ है। कापडिया द्वारा अपनी पुस्तक *'A History of the Jaina Cononical literature of the Jainas'*[6] में इस निर्युक्ति की गाथा संख्या के विषय में प्रदत्त विवरण अत्यन्त भ्रामक है। वहाँ दी गई अलग-अलग अध्ययनों की गाथाओं का योग ९९ ही होता है।

वस्तुतः *'Government Collections'* में प्राप्त अलग-अलग अध्ययनों की गाथाओं का योग १४४ ही है, १५४ का उल्लेख मुद्रण-दोष के कारण है। **'गवर्नमेण्ट कलेक्शन'** का विवरण द्रष्टव्य है[7]—

".....this work ends on fol. 5; 154 gāthās in all; Verses of the different sections of this nijjutti corresponding to the ten sections of Daśāśrutaskandha are separately numbered as under :

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

असमाहिट्ठाणनिज्जुत्ति	११ Verses
सबलदोसनिज्जुत्ति	३ Verses
आसायणनिज्जुत्ति	१० Verses
गणिसंपयानिज्जुत्ति	७ Verses
चित्तसमाहिट्ठाणनिज्जुत्ति	४ Verses
उवासगपडिमानिज्जुत्ति	११ Verses
भिक्खुपडिमानिज्जुत्ति	८ Verses
पज्जोसवणाकप्पनिज्जुत्ति	६७ Verses
मोहणिज्जट्ठाणनिज्जुत्ति	८ Verses
आयतिट्ठाणनिज्जुत्ति	१५ Verses

... आचारदसाणं निज्जुत्ती ।।छ।।गाथा १५४।। **(योग १४४)**

जैन साहित्य का बृहद इतिहास, भाग १ का विवरण भी सम्भवत: इसी स्रोत पर आधारित है। इसलिए १५४ गथाओं का उल्लेख सही अर्थों में १४४ गाथाओं का ही माना जाना चाहिए। कापडिया का उत्तरवर्ती *(Canonical Literature)* विवरण निश्चित रूप से अपने पूर्ववर्ती विवरण पर ही आधारित होगा। परन्तु मुद्रण-दोष ने विवरण को पूरी तरह असङ्गत बना दिया है। उनके विवरण से प्रथम दृष्टि में इस निर्युक्ति में १२ अध्ययन होने का भ्रम हो जाता है— ९,११,३,१०,७,४,११,८,६,७,८ और १५। साथ ही इन गाथाओं का योग भी ९९ ही होता है जबकि ध्यान से देखने पर पता चल जाता है कि यह विसङ्गति निश्चित रूप से मुद्रण-दोष से उत्पन्न हुई है। इसमें शुरु का ९ और नौवें, दसवें क्रम पर उल्लिखित ६, ७ के मध्य का विराम, अनपेक्षित है। इस ९ को गणना से अलग कर देने और ६, ७ के स्थान पर ६७ पाठ हो जाने पर अध्ययन संख्या १० और गाथा संख्या १४४ हो जाती है और कापडिया के उक्त दोनों विवरण एक समान हो जाते हैं। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इस निर्युक्ति की गाथा-संख्या १४४ और १४१ उल्लिखित है। यह संख्या-भेद पाँचवें अध्ययन में क्रमश: चार (१४४) और एक (१४१) गाथा प्राप्त होने के कारण है।

द०नि० की गाथा सं० निर्धारित करने के क्रम में **नि०भा०चू०** का विवरण भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत निर्युक्ति के आठवें 'पर्युषणाकल्प' अध्ययन की सभी गाथायें **नि०भा०** के दसवें उद्देशक[१] में उसी क्रम से 'इमा णिज्जुत्ती' कहकर उद्धृत हैं। निर्युक्ति के आठवें अध्ययन में ६७ गाथायें और **नि०भा०** के दसवें उद्देशक के सम्बद्ध अंश में ७२ गाथायें हैं। इसप्रकार निर्युक्ति गाथाओं के रूप में उद्धृत पाँच

गाथायें अतिरिक्त हैं। **नि० भा०** में इनका क्रमाङ्क ३१५५, ३१७०, ३१७५, ३१९२ और ३२०९ है। इन अतिरिक्त गाथाओं का क्रम **द० नि०** में गाथा सं० क्रमशः ६८, ८२, ८६, १०१ एवं १०९ के बाद आता है। **नि० भा०** में उल्लिखित अतिरिक्त गाथायें निम्न हैं —

पण्णासा पाडिज्जति, चउण्ह मासाण मज्झओ ।
ततो उ सत्तरी होइ, जहण्णो वासुवग्गहो ।।३१५५।।

विगतीए गहणम्मि वि, गरहितविगतिग्गहो व कज्जम्मि ।
गरहा लाभपमाणे, पच्चयपावप्पडीघातो ।।३१७०।।

डगलच्छारे लेवे, छड्डुण गहणे तहेव धरणे य।
पुंछण-गिलाण-मत्तग, भायण भंगाति हेतू से।।३१७५।।

चउसु कसायेसु गती, नरय तिरिय माणुसे य देवगती ।
उवसमह णिच्चकालं, सोग्गइमग्गं वियाणंता ।।३१९२।।

असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे।
अद्धाण रोहए वा, दोसु वि सुत्तेसु अप्पबहुं ।।३२०९।।

इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि **द० चू०** (भावनगर) में ऊपर उल्लिखित गाथा सं० ६८ एवं ८६ की चूर्णि के रूप में प्राप्त विवरण में **नि० भा० चू०** के समान ही गाथा संख्या ३१५५ और ३१७५ की चूर्णि भी प्राप्त होती है। गाथा सं० ८२ के अंश **नि० भा०** की ३१६९ और ३१७० दोनों गाथाओं में प्राप्त होते हैं। ८२ की चूर्णि भी **नि० भा० चू०** की इन दोनों गाथाओं की समन्वित चूर्णियों के समान है। जबकि गाथा सं० १०१ की चूर्णि के साथ **नि० भा०** ३१९२ की चूर्णि और ११८ की चूर्णि के साथ ३२०९ की चूर्णि **द० चू०** में प्राप्त नहीं होती है। तथ्य को स्पष्ट करने के लिए दोनों चूर्णियों के सम्बद्ध अंश को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है—

"कहं पुण सत्तरी? चउण्हं मासाणं सवीसं दिवससतं भवति, ततो सवीसतिरातो मासो पण्णासं दिवसा सोधिता सेसा सत्तरिं दिवसा। जे भद्दवयबहुलस्स दसमीए पज्जोसवेंति तेसिं असीति दिवसा जेट्ठोग्गहो, जे सावणपुन्निमाए पज्जोसविंति तेसिं णं णउत्ति दिवसा मज्झिं जेट्ठोग्गहो, जे सावणबहुलदसमीए ठिता तेसिं दसुत्तरं दिवससतं जेट्ठोग्गहो, एवमादीहिं पगारेहिं वरिसारत्तं एगखेत्ते अच्छित्ता कत्तियचाउम्मासिए णिगंतव्वं। अथ वासो न ओरमति तो मग्गसिरे मासे जद्दिवसं पक्कमट्टियं जातं तद्दिवसं चेव णिग्गंतव्वं, उक्कोसेण तिन्नि दसराया न निग्गच्छेज्जा। मग्गसिरपुन्निमा एत्तियं भणियं होइ मग्गसिरपुन्निमाए परेण जइ विप्पलवंतेहिं तहवि णिगंतव्वं। अथ न निग्गच्छंति ता चउलहुगा। एवं पंचमासिओ जेट्ठोग्गहो । – द० चू०[१०]

कहं सत्तरी? उच्यते - चउण्हं मासाणं वीसुत्तरं दिवससयं भवति - सवीसतिमासो पण्णासं दिवसा, ते वीसुत्तरसयमज्झाओ सोहिया, सेसा सत्तरी ।

जे भद्दवयबहुलदसमीए पज्जोसवेंति तेसि असीतिदिवसा मज्झिमो वासकालोग्गहो भवति ।

जे सावणपुण्णिमाए पज्जोसविंति तेसिं णउतिं चेव दिवसा मज्झिमो चेव वासकालोग्गहो भवति ।

जे सावण बहुलदसमीए पज्जोसवेंति तेसिं दसुत्तरं दिवससयं मज्झिमो चेव वासकालोग्गहो भवति ।

जे आसाढपुण्णिमाए पज्जोसविंति तेसिं बीसुत्तरं दिवससयं जेट्ठो वासुग्गहो भवति। सेसंतरेसु दिवसपमाणं वत्तव्वं। एवमादिपगारेहिं वरिसारत्तं एगखेत्ते अच्छिता कत्तियचाउम्मासियपडिवयाए अवस्सं णिग्गंतव्वं ।

अह मग्गसिरमासे वासति चिक्खल्लजलाउला पंथा तो अववातेण एक्कं उक्कोसेणं तिण्णि वा— दस राया जाव तम्मि खेत्ते अच्छंति, मार्गसिरपौर्णमासीयावदित्यर्थः। मग्गसिरपुण्णिमाए जं परतो जति वि सचिक्खल्ला पंथा वासं वा गाढं अणुवरयं वासति जति विप्लवतेहिं तहावि अवस्सं णिग्गंतव्वं। अह ण णिग्गच्छंति तो चउगुरुगा। एवं पंचमासितो जेट्ठोग्गहो जातो।।३१५५।।

– नि० भा० चू०''

ताहे जाओ असंचईआउ रवीरदहीतोगाहिमगाणिय ताओ असंचइयातो घेप्पंति संचइयातो ण घेप्पंति घततिलगुलणवणीतादीणि। पच्छा तेसिं खते जाते जता कज्जं भवति तदा ण लब्भंति तेण ताओ ण घेप्पंति। अह सड्ढा णिबंधेण निमंतेति ताहे भण्णति। जदा कज्जं भविस्सति, तदा गेण्हीहामो। बालादि-बालगिलाणवुड्ढसेहाण य बहूणि कज्जाणि उप्पज्जंति, महंतो य कालो अच्छति, ताहे सड्ढा तं भणंति-जाव तुब्भे समुद्दिसध ताव, अत्थि चत्तारि वि मासा। ताहे नाऊण गेण्हंति जतणाए, संचइयंपि ताहे घेप्पत्ति, जधा तेसिं सड्ढाणं सड्ढा वट्टंति अवोच्छिन्ने भावे चेव भणंति होतु अलाहिं पज्जतंति। सा य गहिया थेरबालदुब्बलाणं दिज्जति, बलियतरुणाणं न दिज्जति, तेसिं पि कारणे दिज्जति, एवं पसत्थविगतिग्गहणं। अप्पसत्था ण घेत्तव्वा। सावि गरहिता विगती कज्जेणं घिप्पति। इमेणं 'वासावासं पज्जोसविताणं अत्थेगतियाणं एवं वुत्तपुव्वं भवति, अत्थो भंते गिलाणस्स, तस्स य गिलाणस्स वियडेणं पोग्गलेण वा कज्जं से य पुच्छितव्वे, केवतिएणं मे अट्ठो जं से पमाणं वदति एवतिएणं मम कज्जं तप्पमाणतो घेत्तव्वं। एतंमि कज्जे वेज्जसंदिसेण वा, अणत्थ वा कारणे आगाढे जस्स सा अत्थि सोवि न विज्जति तं च से कारणं दीविज्जति। एवं जाइति स माणे लभेज्जा जाथे य तं पमाणं पत्तं भवति जं तेण गिलाणेण भणितं

ताहे भण्णति-होउ अलाहित्ति वत्तव्वं सिया, ताहे तस्यापि प्रत्ययो भवति, सुव्वंतं एते गिलाणट्ठयाए मग्गंति, न एते अप्पणो अट्ठाए मग्गंति। जति पुण अप्पणो अट्ठाते मग्गंता तो दिट्ठंतं पडिच्छंता जावतियं दिज्जति, जेवि य पावा तेसिं पडिघातो कतो भवति। तेवि जाणंति, जधा तित्ति दत्तीउ गेण्हंति सुव्वंत्तं गिलाणट्ठाए सेणं एवं वदंतं अण्णाहि पडिग्गहेहिं भंते तुमंपि भोक्खसि वा पाहिसे वा, एवं से कप्पति पडिग्गाहित्तए नो से कप्पति गिलाण णीस्साए पडिग्गाहित्तए, एवं विगतिट्ठवणा गता।।

– द०चू०[१२]

पसत्थविगतीतो खीरं दहिं णवणीयं घयं गुलो तेल्ल ओगाहिरा च, अप्पसत्थाओ महु-मज्ज-मंसा। आयरिय-बाल-वुड्ढाइयाणं कज्जेसु पसत्था असंचइयाओ खीराइया घेप्पंति, संचतियाओ घयाइया ण घेप्पंति, तासु खीणासु जया कज्जं तया ण लब्भति, तेण तातो ण घेप्पंति।

अह सड्ढा णिब्बंधेण भणेज्ज ताहे ते वत्तव्वा — "जया गिलाणाति कज्जं भविस्सति तया घेच्छामो, बाल-वुड्ढ-सेहाण य बहूणि कज्जाणि उप्पज्जंति, महंतो य कालो आच्छेयव्वो, तम्मि उप्पण्णे कज्जे घेच्छामो" त्ति।

महु-मज्ज-मंसा गरहियविगतीणं गहणं आगाढे गिलाणकज्जं "गरहालाभपमाणे" त्ति गरहंतो गेण्हति, अहो! अकज्जमिणं किं कुणिमो, अण्णहा गिलाणो ण पण्णप्पइ, गरहियविगतिलाभे य पमाणपत्तं गेण्हंति, णो अपरिमितमित्यर्थः, जावतिता गिलाणस्स उवउव इति तंमत्ताए घेप्पमाणीए दातारस्स पच्चयो भवति, पावं णट्ठा गेण्हंति ण जीहलोलयाए त्ति।।३१७०।।

– नि०भा०चू०[१३]

इदाणिं अच्चित्ताणं गहणं-छारडगलयमल्लयादीणं उदुबद्धे गहिताणं वासासु वोसिरणं, वासासु धरणं छारादीणां, जति ण गिण्हति मासलहुं, जो य तेहिं विणा विराधणा गिलाणादीण भविस्सति। भायणविराधणा लेपेण विणा तम्हा घेत्तव्वाणि, छारो एक्केकोणे पुंजो घणो कीरति। तलियावि किं विज्जति जदा णविकिंचि ताओ तदा छारपुंजे णिहम्मंति मा पणइज्जिस्संति, उभतो काले पडिलेहिज्जंति, ताओ छारो य जताअवगासो भूमीए नत्थि, छारस्स तदा कुंडगा भरिज्झंति, लेवो समाणेऊण भाणस्स हेट्ठा कीरति, छारेण उग्गुंडिज्जति, स च भायणेण समं पडिलेहिज्जति। अथ अच्छंतयं भायणं णत्थि ताहे मल्लयं लेवेउणं भरिज्जति पडिहत्थं पडिलेहिज्जति य।

– द०चू०[१४]

छार-डगल-मल्लमातीणं गहणं, वासा उडुबद्धगहियाण वोसिरणं, वत्थातियाण धरणं, छाराइयाण वा धरणं, जति ण गेण्हंति तो मासलहुं, जा य तेहिं विणा गिलाणातियाण विराहणा, भायणे वि विराधिते लेवेण विणा। तम्हा घेत्तव्वाणि। छारो गहितो एककोणे घणो कज्जति। जति ण कज्जं तलियाहिं तो विगिंचिज्जंति। अह कज्जं ताहि तो छारपुंजस्स मज्झे ठविज्जति। पणयमादि-संसज्जणभया उभयं कालं तलियाडगलादियं च सव्वं पडिलेहंति। लेवं संजोएत्ता अप्पडिभुज्जमाणभायणहेट्ठा पुप्फगे कीरति, छारेण य उग्गुंठिज्जति, सह भायणेण पडिलेहिज्जति, अह अपडिभुज्जमाणं भायणं णत्थि ताहे भल्लगं लिंपिऊण पडिहत्थं भरिज्जति। एवं काणइ गहणं काणइ वोसिरणं काणइ गहणधरणं ।। ३१७५।।

—नि० भा० चू०[१५]

नि० भा० चू० में उपलब्ध किन्तु **द० नि०** में अनुपलब्ध इन गाथाओं का विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से भी महत्त्व है। **नि० भा०** सं० ३१५४ व **द० नि०** गाथा ६८ में श्रमणों के सामान्य चातुर्मास (१२० दिन) के अतिरिक्त न्यूनाधिक चातुर्मास की अवधि का वर्णन है। उसमें ७० दिन के जघन्य वर्षावास का उल्लेख है। ३१५५वीं गाथा में ७० दिन का वर्षावास किन स्थितियों में होता है यह बताया गया है जो कि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से बिल्कुल प्रासङ्गिक और आवश्यक है।

गाथा सं० ३१६९ और ३१७० में श्रमणों द्वारा आहार ग्रहण के प्रसङ्ग में विकृति ग्रहण का नियम वर्णित है। उल्लेखनीय है कि **द० नि०** की ८२वीं गाथा के चारों चरण उक्त दोनों गाथाओं के क्रमशः प्रथम चरण (३१६९) और द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ चरण (३१७०) के समान हैं। इन दोनों गाथाओं का अंश निर्युक्ति में एक ही गाथा में कैसे मिलता है? यह विचारणीय है।

विकृति के ही प्रसङ्ग में अचित्त विकृति का प्ररूपण करने वाली ३१७५वीं गाथा भी प्रासङ्गिक है क्योंकि **द० नि०** में सचित्त विकृति का प्रतिपादन है परन्तु अचित्त विकृति के प्रतिपादन का अभाव है जो असङ्गत है। अतः यह गाथा भी **द० नि०** का अङ्ग रही होगी। यही स्थिति शेष दोनों गाथाओं ३१९२ और ३२०९ की भी है।

इसप्रकार चूर्णि में इन गाथाओं का विवेचन और विषय-प्रतिपादन में साकाङ्क्षता **द० नि०** से इन गाथाओं के सम्बन्ध पर महत्त्वपूर्ण समस्या उपस्थित करती है।

द० नि० की गाथा संख्या पर विचार करने के पश्चात् गाथाओं में प्रयुक्त छन्दों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है— **द० नि०**, प्राकृत के मात्रिक छन्द 'गाथा' में निबद्ध है। 'गाथा सामान्य' के रूप में जानी जाने वाली यह संस्कृत छन्द आर्या के समान है। **'छन्दोऽनुशासन'**[१६] की वृत्ति में उल्लिखित भी है— 'आर्यैव संस्कृतेतर भाषासु गाथा संज्ञेति गाथा लक्षणानि' अर्थात् संस्कृत का आर्या छन्द ही दूसरी भाषाओं

में गाथा के रूप में जाना जाता है। दोनों — गाथा सामान्य और आर्या में कुल मिलाकर ५७ मात्रायें होती हैं। गाथा में चरणों में मात्रायें क्रमशः इसप्रकार हैं— १२, १८, १२ और १५। अर्थात् पूर्वार्द्ध के दोनों चरणों में मात्राओं का योग ३० और उत्तरार्द्ध के दोनों चरणों का योग २७ है।

सुगन्धदास — आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

'आर्या' और 'गाथा सामान्य' में अन्तर यह है कि आर्या में अनिवार्य रूप से ५७ मात्रायें ही होती हैं, इसमें कोई अपवाद नहीं होता, जबकि गाथा में ५७ से अधिक-कम मात्रा भी हो सकती है, जैसे ५४ मात्राओं की गाहू, ६० मात्राओं की उद्गाथा और ६२ मात्राओं की गाहिनी भी पायी जाती है। मात्रावृत्तों की प्रमुख विशेषता यह है कि इसके चरणों में लघु या गुरु वर्ण का क्रम और उनकी संख्या नियत नहीं है। प्रत्येक गाथा में गुरु और लघु की संख्या न्यूनाधिक होने के कारण 'गाथा सामान्य' के बहुत से उपभेद हो जाते हैं।

द०नि० में 'गाथा सामान्य' के प्रयोग का बाहुल्य है। कुछ गाथायें गाहू, उद्गाथा और गाहिनी में भी निबद्ध हैं। सामान्य लक्षण वाली गाथाओं (५७ मात्रा) में बुद्धि, लज्जा, विद्या, क्षमा, देही, गौरी, धात्री, चूर्णा, छाया, कान्ति और महामाया का प्रयोग हुआ है।

गाथा सामान्य के उपभेदों की दृष्टि से अलग-अलग गाथावृत्तों में निबद्ध श्लोकों की संख्या इसप्रकार है[१०]— बुद्धि-१, लज्जा-४, विद्या-११, क्षमा-९, देही-२८, गौरी-२२, धात्री-२३, चूर्णा-१५, छाया-८, कान्ति-३, महामाया-३, उद्गाथा-९ और अन्य-४।

यह बताना आवश्यक है कि सभी गाथाओं में छन्द लक्षण घटित नहीं होते हैं। दूसरे शब्दों में, सभी गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध हैं या निर्दोष हैं, ऐसी बात नहीं है कुछ गाथायें अशुद्ध भी हैं।

निर्युक्ति गाथाओं में गाथा-लक्षण घटित करने के क्रम में जो तथ्य सामने आते हैं वे इसप्रकार हैं—

इस निर्युक्ति में १४१ में से ४७ गाथायें गाथा लक्षण की दृष्टि से निर्दोष हैं अर्थात् इन ४७ गाथाओं में गाथा लक्षण यथावत् घटित हो जाते हैं। इनका विवरण निम्न सारिणी में दिया गया है—

क्रम सं.	गाथा सं.		गुरु	लघु	मात्रा	गाथा नाम
१.	१	प्र.	१०	१०	५७	धात्री
		उ.	९	९		

२.	३	१२	६	६०	उद्गाथा
		११	८		
३.	४	११	८	५७	देही
		१०	७		
४.	९	१२	६	"	क्षमा
		१०	७		
५.	१४	१४	२	५७	विद्या
		९	९		
६.	१६	१०	१०	"	देही
		११	५		
७.	१८	११	८	"	"
		१०	७		
८.	२१	१०	१०	"	धात्री
		९	९		
९.	२५	९	१२	"	चूर्णा
		९	९		
१०.	२६	११	८	"	देही
		१०	७		
११.	२८	९	१२	"	चूर्णा
		९	९		
१२.	३०	५	१७	५४	गाहू
		७	१३		
१३.	३७	११	८	५७	धात्री
		८	११		
१४.	३९	९	१२	"	"
		१०	७		
१५.	४२	९	१२	"	धात्री
		१०	७		
१६.	४४	११	८	"	गौरी

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

३१.	९४	९	१२	"	"
		७	१३		
३२.	९५	८	१४	"	महामाया
		७	१३		
३३.	९९	१०	१०	"	धात्री
		९	९		
३४.	१००	८	१४	"	महामाया
		७	१३	"	
३५.	१०५	८	१४	"	चूर्णा
		७	७		
३६.	१०७	९	१२	"	"
		९	९		
३७.	१०९	१०	१०	"	धात्री
		९	७		
३८.	११२	१२	६	"	क्षमा
		१०	७		
३९.	११५	१०	१०	"	धात्री
		९	९		
४०.	११९	१३	४	"	लज्जा
		११	५		
४१.	१२०	११	८	"	देही
		१०	७		
४२.	१२१	११	८		गौरी
		९	९		
४३.	१२३	११	८	५४	गाहू
		१०	४		
४४.	१२४	११	८	५७	देही
		१०	७		
४५.	१३४	११	८	"	गौरी

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

४६.	१३२	९	१२	५७	छाया
		८	११		
४७.	१४१	९	८		गौरी
		९	९		

दस गाथाओं में चरण-विशेष के अन्तिमपद के गुरुवर्ण की ह्रस्व के रूप में गणना करने से गाथा-लक्षण घटित हो जाते हैं तो सोलह गाथाओं में चरण-विशेष के अन्तिमपद के लघु वर्ण की गुरु के रूप में गणना करने से छन्द लक्षण घटित हो जाता है। कवि परम्परा के अनुसार छन्द-पूर्ति के लिए प्रयोजनानुरूप चरण के अन्तिम वर्ण के गुरु का ह्रस्व और ह्रस्व का गुरु उच्चारण या गणना करने का विधान है।[१८] इन गाथाओं की सूची इसप्रकार है—

अन्तिम गुरु की लघु गणना करने मात्र से छन्द की दृष्टि से शुद्ध होने वाली गाथायें—

क्र०सं०	गाथा सं०	चरण	गाथा
१	१३	पू०	धात्री
२	१५	उ०	क्षमा
३	१९	उ०	विद्या
४	२२	उ०	धात्री
५	३४	उ०	गौरी
६	४१	पू०	"
७	४९	पू०	चूर्णा
८	११७	पू०	धात्री
९	१२५	पू०	गौरी
१०	१३९	उ०	"

लघु की गुरु गणना करने मात्र से छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाने वाली गाथायें—

क्र०सं०	गाथा सं०	चरण	गाथा
१.	५	उ०	गौरी
२.	११	उ०	देही
३.	१७	उ०	उद्गाथा
४.	२३	पू०	उद्गाथा

५.	२७	पू०	देही
६.	२९	पू०	विद्या
७.	३५	उ०	क्षमा
८.	३६	पू०	गौरी
९.	३८	उ०	,,
१०.	५०	उ०	गाहू
११.	५५	उ०	देही
१२.	५७	उ०	गौरी
१३.	९०	उ०	चूर्णा
१४.	९६	उ०	बुद्धि
१५.	११०	पू०	धात्री
१६.	११६	पू०	क्षमा
१७.	१३५	पू०	देही
१८.	१३६	पू०	गौरी
१९.	१३७	पू०	विद्या

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इसप्रकार **द०नि०** (१४१) की आधी से अधिक गाथायें (४७+१०+१९=७६) छन्द की दृष्टि से यथास्थिति में ही शुद्ध हैं।

अब ६५ गाथायें ऐसी शेष रहती हैं जिनका पाठ छन्द की दृष्टि से न्यूनाधिक रूप में अशुद्ध कहा जा सकता है। इनमें १४ गाथायें ऐसी हैं जिनमें प्राकृत व्याकरण के शब्द अथवा धातु रूपों के नियमानुसार गाथा-विशेष के एक या दो शब्दों पर अनुस्वार की वृद्धि कर देने पर गाथा-लक्षण घटित हो जाता है ऐसी गाथाओं की सूची इसप्रकार है—

प्राकृत शब्द अथवा धातु रूपों के अनुरूप अनुस्वार का ह्रास एवं वृद्धि कर देने मात्र से छन्द की दृष्टि से शुद्ध होने वाली गाथायें—

क्रम सं०	गाथा सं०	शब्द-संशोधन	गाथा
१.	२४	चरणेसु > चरणेसुं	देही
२.	३१	दुग्गेसु > दुग्गेसुं	महामाया
३.	४०	भिक्खूण > भिक्खूणं	गौरी
४.	६५	तेण > तेणं	धात्री
५.	७५	मोत्तूण > मोत्तूणं	गौरी
६.	७६	इयरेसु > इयरेसुं	छाया

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

७.	८५	वासासु > वासासुं	देही
८.	८६	मोत्तु > मोत्तुं	"
९.	१०२	वत्थेसु > वत्थेसुं	गौरी
१०.	१०६	गहण > गहणं कहण > कहणं	कान्ति
११.	१११	णाउ > णाउं	छाया
१२.	१२७	ठाणेणं > ठाणेण	लज्जा
१३.	१२८	अणुभवण > अणुभवणं	धात्री
१४.	१४०	दोसेणु > दोसेणं	धात्री

द०नि० में ग्यारह गाथायें ऐसी हैं जिनमें प्राकृत व्याकरण के शब्द अथवा धातु रूपों के नियमानुरूप शब्द-विशेष में किसी ह्रस्व मात्रा को दीर्घ कर देने पर और किसी दीर्घ मात्रा को ह्रस्व कर देने पर छन्द लक्षण घटित हो जाता है। ये गाथायें निम्नलिखित हैं—

उपयुक्त प्राकृत शब्द-धातु रूपों के अनुरूप स्वर को ह्रस्व या दीर्घ कर देने और स्वर में वृद्धि या ह्रास करने से छन्द की दृष्टि से शुद्ध होने वाली गाथायें—

क्रम सं०	गाथा सं०	शब्द-संशोधन	गाथा
१.	७०	अणिंतस्सा > अणिंतस्स	चूर्णा
२.	७१	आरोवण > आरोवणा	विद्या
३.	८१	काईय > काइय	विद्या
४.	९७	उ > तो	क्षमा
५.	१०३	णो > ण	देही
६.	११४	णाणट्ठी > णाणट्ठि	गौरी
७.	११८	णाणट्ठी > णाणट्ठि	धात्री
८.	१२६	तो > तु	चूर्णा
९.	१३०	मणुस्स > मणुस्से	देही
१०.	१३१	असंजयस्सा > असंजयस्स	देही
११.	१३३	तीत्थंकर > तित्थंकर	गाथिनी

इस निर्युक्ति में १८ गाथायें ऐसी हैं जिनमें छन्द-लक्षण घटित करने के लिए पादपूरक निपातों — तु, तो, खु, हि, व, वा, च, इत्यादि और इन निपातों के विभिन्न

प्राकृत रूपों को समाविष्ट करना पड़ता है। इन गाथाओं की सूची इस प्रकार है —

पादपूरक निपातों की वृद्धि करने से छन्द की दृष्टि से शुद्ध गाथायें

क्रम सं०	गाथा सं०	शब्द-संशोधन			गाथा
१.	२	उ०	'उ'	वृद्धि	उद्गाथा
२.	६	उ०	'हि'	वृद्धि	विद्या
३.	७	उ०	'आ'	वृद्धि	छाया
४.	८	प्र०	'उ'	वृद्धि	लज्जा
५.	२०	उ०	'उ'	वृद्धि	गौरी
६.	४३	उ०	'च'	वृद्धि	धात्री
७.	५३	उ०	'च'	वृद्धि	उद्गाथा
८.	४६	उ०	'च'	वृद्धि	चूर्णा
९.	५१	उ०	'य'	वृद्धि	"
१०.	७३	उ०	'उ'	वृद्धि	उद्गाथा
११.	७४	पू०	'उ'	वृद्धि	क्षमा
१२.	७९	उ०	'य'	वृद्धि	देही
१३.	८१	उ०	'उ'	वृद्धि	छाया
१४.	८४	पू०	'उ'	वृद्धि	देही
१५.	८५	उ०	'तु'	वृद्धि	"
१६.	१२२	पू०	'य'	वृद्धि	विद्या
१७.	१२९	उ०	'उ'	वृद्धि	उद्गाथा
१८.	१३८	उ०	'अ'	वृद्धि	चूर्णा

इसप्रकार ४३ (१४,११,१८) गाथाओं में छन्द की दृष्टि से पाठ-शुद्धि के लिए लघु संशोधनों की आवश्यकता है और इस तरह ११९ (७६,२३) गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाती हैं।

लगभग २६ गाथाओं में गाथा लक्षण (घटित करने के उद्देश्य से) पाठान्तरों का में अध्ययन करने हेतु **द०नि०** की समान्तर गाथाओं का सङ्कलन किया गया है, जो पृष्ठ ९९-११८ पर दी गई हैं। प्राप्त समानान्तर गाथाओं के आलोक में ही उक्त गाथाओं को छन्द की दृष्टि से शुद्ध किया गया है[११]— शुद्ध की जाने वाली गाथाओं का क्रमाङ्क, स्थानापन्न संशोधनों का विवरण नीचे सारिणी में दिया गया है—

क्र.सं.	गाथा	चरण	संशोधन	आधारग्रन्थ	गाथा
५.	४१	उ०	तव > तवम्मि	नि०भा०	लज्जा
१.	१०	पू०	ओवरई > ओवरइ	द०चू०	चूर्णा
		उ०	ण का ग्रहण	द०चू०	
२.	१२	उ०	वइक्कम > वइक्कमे चार्थक अ की वृद्धि	द०चू०	धात्री
३-४	३२-३३	उ०	दव्व > दव्वे उयणाईसु > ओयणाईसुं	द०नि०	देही
५.	४१	उ०	तव > तवम्मि	नि०भा०	लज्जा
६.	५४	उ०	'काले' की वृद्धि	द०चू०	लज्जा
७.	५८	पू०	उणाइरित्त > ऊणातिरित्त	नि०भा०	विद्या
८.	५९	उ०	चिक्खल > चिक्खल्ल	नि०भा०	विद्या
९.	६०	उ०	अपडिक्कमिउं > अप्पडिक्कमितुं	नि०भा०	देही
१०.	६३	पू०	गतव्वं > ठायव्वं	नि०भा०	देही
११.	६४	पू०	बाहिं ठित्तति > बाहिट्ठिया	नि०भा०	क्षमा
१२.	६६	पू०	'ण' छूट गया है प्रकाशनदोष	नि०भा०	गौरी
१३.	६८	उ०	मिग्गसिरे > मग्गसिरे	नि०भा०	चूर्णा
१४.	६९	पू०	ठियाणऽतीएमग्गसीरे > ठियाणऽतीतमग्गसिरे	नि०भा०	देही
		उ०	होति > भणितो	नि०भा०	
			गतव्वं > णिग्गमणं	नि०भा०	
१५.	७०	उ०	अणितस्सा आरोवण > अणिंताणं आरोवण	वृ०क०भा०	विद्या
१६.	७८	उ०	जंघद्धे कोवि > जंघद्धेक्कोवि	नि०भा०	धात्री
१७.	८०	पू०	पुव्वाहारोसवण > पुव्वाहारोसवणं सत्तिउग्गहणं > सत्तिओ गहणं	नि०भा०	धात्री
		उ०	संचइय > संचइए पसत्था उ > पसत्थाओ		

क्रमशः .....

क्र.सं.	गाथा	चरण	संशोधन	आधारग्रन्थ	गाथा
१८.	८३	पू०	कारणओ > कारणे	नि०भा०	देही
१९.	८९	पू०	संपाइमवहो > संपातिवहो नेहछेओ > णेहछेदु	नि०भा० नि०भा०	धात्री
२०.	९२	पू०	दुरुत्तग्ग > दुरुतग्गो	नि०भा०	देही
२१.	९८	उ०	खिंसणा व > खिंसणाहिं	नि०भा०	चूर्णा
२२.	१०१	उ०	अवलेहणीया किमिराग कद्दम कुसुंभय हलिद्दा > अवलेहणि किमि कद्दम कुसुंभरागे हलिद्दा य	नि०भा०	धात्री
२३.	१०४	उ०	अणुयत्तीह > अणुयत्तीहिं	नि०भा०	धात्री
२४.	१०८	उ०	पुच्छति य पडिक्कमणे पुव्वभासा चउत्थम्मि > पुच्छा तिपडिक्कमणे, पुव्वभासा चउत्थंपि	नि०भा०	गौरी
२५.	११३	पू०	मंगल्लं > तु मंगलं	नि०भा०	छाया
२६.	१३०	उ०	मणुस्स > मणुस्से	द०चू०	देही

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुछ गाथाओं को, उनमें प्राप्त शब्द-विशेष को समानान्तर गाथाओं के परिप्रेक्ष्य में व्याकरण की दृष्टि से संशोधित कर शुद्ध कर सकते हैं जैसे गाथा सं० १२, ४७, ६३, ८३, ९२, ९८, १०४ और १३०।

गाथा सं० ५९, ६९, ७८, ८०, ८९, ११३ और १४१ समानान्तर गाथाओं के पाठों के आलोक में और साथ ही साथ प्राकृत भाषा के व्याकरणानुसार वर्तनी संशोधित कर देने पर छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाती हैं।

गाथा सं० ६३ और ६९ समानान्तर गाथाओं के अनुरूप एक या दो शब्दों का स्थानापन्न समाविष्ट कर देने से छन्द की दृष्टि से निर्दोष हो जाती हैं।

गाथा सं० ५४ और ५८ में क्रमशः 'काले' और 'मासे' को छन्द-शुद्धि की दृष्टि से जोड़ना आवश्यक है। उक्त दोनों शब्द इन गाथाओं के सभी समानान्तर पाठों में उपलब्ध हैं। गाथा सं० १० और ६६ में 'ण' की वृद्धि आवश्यक है। इन शब्दों को समाविष्ट करना विषय-प्रतिपादन को युक्तिसङ्गत बनाने की दृष्टि से भी आवश्यक है। सम्भव है उक्त गाथाओं में 'काले', 'मासे' और 'ण' का अभाव मुद्रण या पाण्डुलिपि-लेखक की भूल हो सकती है। गाथा सं० १०१ और १०८ समानान्तर

गाथाओं के आलोक में सम्पूर्ण उत्तरार्द्ध को बदलने पर छन्द की दृष्टि से शुद्ध होती है।

इस निर्युक्ति की गाथाओं से, गाथाओं के समानान्तर पाठालोचन के क्रम में कुछ अन्य उल्लेखनीय तथ्य भी हमारे समक्ष आते हैं। जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है गाथा सं० ८२ के चारों चरण, **नि० भा०** की दो गाथाओं ३१६९ और ३१७० में प्राप्त होते हैं।

इसीप्रकार गाथा सं०८६ में प्राप्त 'संविग्ग' और 'निद्दओ भविस्सइ' के स्थान पर **नि० भा०** की गाथा ३१७४ में क्रमशः 'सचित्त' और होहिंतिणिधम्मो' प्राप्त होता है। इन दोनों गाथाओं में शब्दों का अन्तर होने पर भी मात्राओं का समायोजन इस प्रकार है कि छन्द-रचना की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

द०नि० में दृष्टान्तकथाओं को, एक या दो गाथाओं में उनके प्रमुख पात्रों तथा घटनाओं को सूचित करने वाले शब्दों के माध्यम से वर्णित किया गया है। इङ्गित नामादि भी समानान्तर गाथाओं में भिन्न-भिन्न रूप में प्राप्त होते हैं। पर इनमें भी मात्राओं का समायोजन इसप्रकार है कि छन्द-योजना अप्रभावित रहती है। चम्पाकुमारनन्दी (गाथा ९३) के स्थान पर **नि० भा०** ३१८२ में चंपा अणंगसेनो और वणिधूयाऽच्चंकारिय (१०४) के स्थान पर धणधूयाऽच्चंकारिय (नि०भा० ३१९४) प्राप्त होता है।

जो गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध भी हैं उनकी समानान्तर गाथाओं में भी छन्द-भेद और पाठ-भेद प्राप्त होते हैं। निर्युक्ति की गाथा सं० ३ 'बाला मंदा' **स्थानाङ्ग, दशवैकालिकनिर्युक्ति, तन्दुलवैचारिक, नि० भा०** और **स्थानाङ्ग-अभयदेववृत्ति** में पायी जाती है। इन ग्रन्थों में यह गाथा चार भिन्न-भिन्न गाथा छन्दों में निबद्ध है और सभी छन्द की दृष्टि से शुद्ध हैं। **द०नि०** में यह गाथा ६० मात्रा वाली उद्गाथा, स्थानाङ्ग, **द०नि०** और **स्थानाङ्गवृत्ति** में यह गाथा ५७ मात्रा वाली गौरी गाथा में व प्रकीर्णक **तन्दुलवैचारिक** में क्षमा गाथा में तो **नि० भा०** में ५२ मात्रावाली गाहू गाथा में निबद्ध है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि पाठान्तर केवल त्रुटियों का ही सूचक नहीं है अपितु ग्रन्थकार या रचनाकार की योजना के कारण भी गाथाओं में पाठ-भेद हो सकता है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि यद्यपि किसी प्राचीन ग्रन्थ का पाठ-निर्धारण एक कठिन और बहुआयामी समस्या है फिर भी गाथाओं का छन्द की दृष्टि से अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है। छन्द-दृष्टि से अध्ययन करने पर समानान्तर गाथाओं के आलोक में गाथा-संशोधन के अलावा विषय-प्रतिपादन को भी सङ्गत बनाने में सहायता है।

एल०एल्सडोर्फ[१०] के इस अभिमत को कि प्राचीन जैनाचार्यों ने गाथाओं की रचना में छन्दों और प्राकृत भाषा के नियमों की उपेक्षा की पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर यह धारणा बनती है कि उक्त अशुद्धियाँ पाण्डुलिपियों के लेखक, सम्पादक और किञ्चित् अंशों में मुद्रण-दोष के कारण भी निर्युक्तियों में आ गई हैं। हाँ, कुछ अंशों में निर्युक्तिकार का छन्द और व्याकरण के प्रति उपेक्षात्मक दृष्टिकोण भी उत्तरदायी हो सकता है।

●

सन्दर्भ :

१. **दशाश्रुतस्कन्ध-मूल-निर्युक्ति-चूर्णि,** मणिविजयगणि ग्रन्थमाला, सं० १४, भावनगर १९५४।

२. "दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति", **'निर्युक्तिसङ्ग्रह'** सं० जिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्र०मा०, १८९, लाखाबावल १९८९, पृ० ४७६-४९६।

३. H.R. Kapadia, *'Government Collection of Manuscripts'*, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, खण्ड १७, भाग-२, पूना १९३६, पृ० ६७।

४. **जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास,** भाग १, पा०वि०ग्र०मा०सं० ६, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी, द्वि०सं० १९८९, पृ० ३४।

५. संग्रा०ह०दा० वेलणकर, **जिनरत्नकोश,** खण्ड एक, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सिरीज, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९४४, पृ० १७२।

६. H.R. Kapadia, *'A History of the cononical Literature of Jainas'* लेखक, सूरत १९४१, पृ० १८२।

७. कापडिया, *'Government Collection'*, ओरिएण्टल, पूना १९३६, पृ० ६७।

८. कापडिया, *'Canonical'*, सूरत १९४४, पृ० १८२।

९. **निशीथसूत्रम् (भाष्य एवं चूर्णि सहित),** सं० आचार्य अमरमुनि, ग्र०मा०सं०५, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली और सन्मति ज्ञानपीठ, राजगृह, उद्देशक १०, गाथा ३१३८-३२०९, (भाग ३)।

१०. **द०चू०,** मणिविजय ग्र०मा० १४, भावनगर १९५४, पृ० ५५।

११. **नि०भा०चू०,** ३, अमरमुनि, ग्र०मा० सं० ५, दिल्ली, राजगृह, पृ० १३२।

१२. **द०चू०,** भावनगर १९५४, पृ० ५७।

१३. **नि०भा०चू०,** दिल्ली, राजगृह, पृ० १३५-१३६।

१४. **द०चू०**, भावनगर १९५४, पृ० ५८।

१५. **नि०भा०चू०**, दिल्ली, राजगृह, पृ० १३७।

१६. सं० प्रो०ह०दा०वेलणकर, **छन्दोऽनुशासन** (हेमचन्द्र), भारतीय विद्या भवन, बम्बई १९६१, पृ० १२८।

१७.१. बुद्धि (१) गाथा सं० ९६।

२. लज्जा (४) गाथा सं० ८, ५४, ११९, १२७।

३. विद्या (११) ६, १४, १९, २९, ५८, ५९, ६१, ७१, ७७, १२२, १३७।

४. क्षमा (९) ९, १५, २३, ३५, ६४, ७२, ९७, ११२, ११६।

५. देही (२८) ४, ११, १६, १८, २४, २६, २७, ३२, ४७, ४८, ५५, ५६, ६०, ६२, ६३, ६९, ७९, ८३, ८४, ८५, ८६, ८८, ९२, १०३, १२०, १२४, १३०, १३५।

६. गौरी (२२) ५,२०,३४,३६,३८,४०,४१,४४,५७,६६,७५,९१, १०२,१०८,११४,१२१,१२५,१३१,१३४,१३६,१३९,१४१।

७. धात्री (२२) १,१२,१३,२१,२२,३७,३९,४३,६५,६७,७८,८०, ८९,१०१, १०४, १०९, ११०, ११५, ११७, ११८, १२८, १४०।

८. चूर्णा (१५) १०, २५, २८, ४९, ५१, ५३, ६८, ७०, ८२, ९०, ९८, १०५, १०७, १२६, १३८।

९. छाया (८) ७, ५०, ७६, ८१, ८७, १११, ११३, १३२।

१०. कान्ति (३) ९३, ९४, १०६।

११. महामाया (३) ३१, ९५, १००।

१२. उद्गाथा (८) २, ३, १७, २३, ४६, ५२, ७३, १२८।

१३. अन्य (३)

१८. ह्रस्वानामपि गुरुत्वम् इति अभिप्रायो वा; **छन्दोमञ्जरी**–कर्त्ता गङ्गादास, व्याख्याकार डॉ० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती, ग्रन्थमाला ३६, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९७८, पृ० ९।

१९. देखिए, समानान्तर गाथाओं का विवरण, पृ० ९९-११८।

२०. W.B. Bolee, *'The Nijjutties on the seniors of the Svetāmbara Siddhānta'* फ्रैंज स्टेनर वर्लाग, स्टुअर्ट १९९५, प्रस्ता०, पृ० ६।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

निर्युक्ति गाथा – समानान्तर गाथा

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्तिः गाथा

वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे ।।१।।
बाला मंदा किड्डा बला य पण्णा य हायणिपवंचा।
पब्भारमुब्भुही सयणी भावेहि य लक्खणेहिं दसा ।।३।।
दव्वं जेण व दव्वेण सायणी आहियं च जं दव्वं।

मार्गदर्शक :- आचार्यश्री सुदर्शनलालजी महाराज

भावो सुसमाहितया जीवस्स पसत्थजोगेहिं ।।९।।
नामं ठवणा दविए खेत्तद्धा उड्ढ ओवरई वसही।
संजमपग्गहजोहे अचलगणणसंघणाभावे ।।१०।।

मिच्छा पडिवत्तीए जे भावा जत्थ होंति सब्भूआ।
तेसिं तु वितह पडिवज्जणाए आसायणा तम्हा ।।१९।।

आयारंमि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं।।२७।।

समानान्तर गाथायें

१. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयनाणी ।
स-तत्थ (स्स) कारगमिंसिं दसाणकप्पे य ववहारे ।।६।। पञ्च०भा०

३. १- बाला किड्डा य मंदा य बला य पण्णा य हायणी ।
पंवचा पब्भारा य मुम्मुही सायणी तथा ।।१०।। -१५४- स्था०

२- बाला किड्डा मंदा बला य पन्ना य हायणि पवंचा ।
पब्भार मम्मुही सायणी य दसमा ३ कालदसा ।।१०।। दश०नि०

३- बाला[1] किड्डा[2] मंदा[3] बला[4] य पन्ना[5] य हायणि[6] पवंचा[7] ।
पब्भारा[8] मुम्मुही[9] सायणी य[10] दसमा य कालदसा ।।४५।। त०वै०

४- बाला मंदा किड्डा बला पण्णा य हायणी ।
पवंचा पब्भारा य मुम्मुही सायणी तहा ।।३५४५।। नि०भा० ४

९. दव्वं जेण व दव्वेण समाही आहिअं च जं दव्वं ।
भाव समाहि चउव्विह दंसणनाणे तव चारित्ते ।।३२७।। दश०नि०

१०.१- णामं ठवणा दविए खित्तद्धा उड्ढ उवरई वसही ।
संजम पग्गह जोहे अयल गणण संधणा भावे ।।१७५।। आचा०नि०

२- नामं ठवणा दविए खेत्तेऽद्धा उड्ढ उवरती वसही ।
संजम पग्गह जोहे अचलगणण संधणा भावे ।।१६७।। सूत्र०नि०

३- नामं ठवणादविए खित्तद्धा उड्ढ उवरई वसही ।
संजम पग्गहजोहे अयलगणण संधणा भावे ।।५२२।। नि०भा०, १

४- नामं ठवणा दविए खेत्तद्धा उड्ढओ विरति वसही ।
संजम पग्गह जोहो, अचल गणण संधणा भावे ।।६२९६।।नि०भा०, ४

१९. मिच्छापडिवत्तीए जे भावा जत्थ होंति सब्भूया ।
तेसू वितहं पडिवज्जणा य आसायणा तम्हा ।।२६४८।। नि०भा०२

२७. आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं।।१०।। आचा०नि०

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विजयहिमाचल जी महाराज

दंसणवयसामाइयपोसहपडिमा अबंभसच्चित्ते ।
आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जए समणभूए अ ।।४३।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पज्जोसमणाए अक्खराइं होंति उ इमाइं गोण्णाइं ।
परियायववत्थवणा पज्जोसमणा य पागइया ।।५२।।
परिवसणा पज्जुसणा पज्जोसमणा य वासवासो वा ।
पढमसमोसरणं ति य ठवणा जट्ठोग्गहेगट्ठा ।।५३।।
ठवणाए निक्खेवो छक्को दव्वं च दव्वनिक्खेवो ।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते कालो जहिं जो उ ।।५४।।
ओदइयाईयाणं भावाणं जा जहिं भवे ठवणा ।
भावेण जेण य पुणो, ठविज्जए भावठवणा उ ।।५५।।
सामित्ते करणम्मि य, अहिगरणे चेव होंति छब्भेया ।
एगत्तपुहत्तेहिं, दव्वे खेत्तऽद्धभावे य ।।५६।।
कालो समयादीओ, पगयं समयम्मि तं परूवेस्सं ।
निक्खमणे य पवेसे, पाउससरए य वोच्छामि ।।५७।।
उणाइरित्त मासे अट्ठ विहरिऊण गिम्हहेमंते ।
एगाहं पंचाहं, मासं च जहा समाहीए ।।५८।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

४३.१- दंसणवयसामाइय पोसह पडिमा अबंभ सच्चित्ते ।।
आरम्भपेस उद्दिट्ठ वज्जए समणभूए य ।।४।। आव०नि०

२- दंसण वय सामाइय पोसह सचित्त रायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह अणुमण उद्दिट्ठ देसविरदो य ।।२२।। चा०प्रा०

३- दंसणवयसामाइय पोसहसच्चित्तरायभत्ते य ।
बम्हारंभपरिग्गह अणुमणमुद्दिट्ठ देसविरदेदे ।।६९।। र०सा०

४- दंसणवयसामाइय, पोसहसच्चिरायभत्ते य ।
बंभारंभपरिग्गह,अणुमणमुद्दिट्ठे दसविरदेदे।।४७७।। गो०सा०

५- दंसणवयसामाइय पोसहसचित्तरायभत्ते य ।
बंभारंभ परिग्गह अणुमणुद्दिट्ठ देसविरदेदे य ।।६६।। अङ्ग०प०

६- दंसण[1] वय[2] सामाइय[3] पोसह[4] पडिमा[5] अबंभ[6] सचित्ते[7]।
आरंभ[8] पेस[9] उद्दिट्ठ[10] वज्जए समणभूए[11] य ।।९८०।। प्र०सा०

५२. पज्जोसवणाए अक्खराइ होंति उ इमाइं गोण्णाइं ।
परिवायवत्थवणा, पज्जोसवणा य पागइता।।३१३८।। नि०भा०, ३

५३. परिवसणा पज्जुसणा, पज्जोसवणा य वासवासो य ।
पढमसमोसरणं ति य, ठवणा जेट्ठोग्गहेगट्ठा ।।३१३९।। नि०भा०, ३

५४. ठवणाए निक्खेवो, छक्को दव्वं च दव्वणिक्खेवे ।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते, काले कालो जहिं जो उ ।।३१४०।। नि०भा०, ३

५५. ओदइयादीयाणं, भावाणं जो जहिं भवे ठवणा ।
भावेण जेण य पुणो, ठवेज्ज ते भावठवणा तु ।।३१४१।। नि०भा०, ३

५६. सामित्ते करणम्मि य, अहिकरणे चेव होंति छब्भेया ।
एगत्त-पुहुत्तेहिं, दव्वे खेत्ते य भावे य ।।३१४२।। नि०भा०, ३

५७. कालो समयादीयो, पगयं कालम्मि तं परूवेस्सं ।
निक्खमणे य पवेसे, पाउस-सरए य वोच्छामि ।।३१४३।। नि०भा०, ३

५८. ऊणातिरित्तमासे, अट्ठविहरिऊण गिम्ह-हेमंते ।
एगाहं पंचाहं, मासं च जहा समाहीए ।।३१४४।। नि०भा०, ३

काऊण मासकप्पं, तत्थेव उवागयाण ऊणा ते ।
चिक्खल वास रोहेण वा वि तेण ट्ठिया ऊणा ।।५९।।
वासाखेत्तालंभे, अद्धाणादीसु पत्तमहिगातो ।
साहगवाघाएण व अपडिक्कमिउं जइ वयंति ।।६०।।
पडिमापडिवन्नाणं एगाहं पंच होंतऽहालंदे ।
जिणसुद्धाणं मासो निक्कारणओ य थेराणं ।।६१।।
ऊणाइरित्त मासा एवं थेराण अट्ठ णायव्वा ।
इयरे अट्ठ विहरिउं णियमा चत्तारि अच्छंति ।।६२।।
आसाढपुण्णिमाए वासाखेत्तं तु होति घेत्तव्वं ।
मग्गसिरबहुलदसमीउ जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि ।।६३।।

बाहिं ठित्तति वसभेहिं खेतं गाहेत्तु वासपाओग्गं ।
कप्पं कहेत्तु ठवणा, सावणऽसुद्धस्स पंचाहे ।।६४।।

एत्थ तु अणभिग्गहियं वीसतिरायं सवीसतीमासं ।
तेण परमभिग्गहिअं गिहिणातं कत्तिओ जाव ।।६५।।

असिवाइकारणेहिं अहवा वासं ण सुट्ठ आरद्धं ।
अहिवड्ढियम्मि वीसा इयरेसु सवीसई मासो ।।६६।।

५९. काऊण मासकप्पं, तत्थेव उवागयाण ऊणा उ ।
चिक्खल्लवासरोहेण वा बितीए ठिता णूणं।।३१४५।। नि०भा०, ३

६०. वासाखेत्तालंभे, अद्धाणादीसु पत्तमहिगा तु ।
साधग-वाघातेण व, अप्पडिकमितुं जति वंयति।।३१४६।। नि०भा०, ३

६१. पडिमापडिवण्णाणं, एगाहो पंच होंतऽहालंदे ।
जिण-सुद्धाणं मासो, निक्कारणतो य थेराणं।।३१४७।। नि०भा०, ३

६२. ऊणातिरित्तमासा, एवं थेराण अट्ठ णायव्वा ।
इयरेसु अट्ठ रियितुं, णियमा चत्तारि अच्छंति ।।३१४८।।नि०भा०, ३

६३.१- आसाढपुण्णिमाए, वासावासासु होइ ठायव्वं ।
मग्गसिरबहुलदसमी, उ जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि ।।३१४९।। नि०भा०, ३

२- आसाढपुण्णिमाए, वासावासासु होति अतिगमणं ।
मग्गसिरबहुलदसमी, उ जाव ए । म्मि खेत्तम्मि ।।४२८०।। बृ०क०, ५

६४.१- बाहिट्ठिया वसभेहिं, खेत्तं गाहेत्तु वासपाउग्गं ।
कप्पं कहेत्तु ठवणा, सावणबहुलस्स पंचाहे।।३१५०।। नि०भा०, ३

२- बाहि ठिया वसभेहिं, खेत्तं गाहेत्तु वासपाउग्गं ।
कप्पं कथेत्तु ठवणा, सावणबहुलस्स पंचाहे ।।४२८१।। बृ०क०, ५

६५.१- एत्थ उ अणभिग्गहियं, वीसति राइं सवीसतिं मासं ।
तेण परमभिग्गहियं, गिहिणातं कत्तिओ जाव ।।३१५१।। नि०भा०, ३

२- एत्थ य अणभिग्गहियं, वीसतिरायं सवीसगं मासं ।
तेण परमभिग्गहियं गिहिणायं, कत्तिओ जाव ।।४२८२।। बृ०क०, ५

३- एत्थ य अणभिग्गहियं वीसइराइं सवीसयं मासं ।
तेण परमभिग्गहियं गिहिनायं कत्तियं जाव ।।५-२।। स्था०वृ०

६६.१- असिवाइकारणेहिं, अहव न वासं न सुट्ठु आरद्धं ।
अहिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसतीमासो ।।३१५२।। नि०भा०, ३

२- असिवाइकारणेहिं, अहवण वासं ण सुट्ठु आरद्धं ।
अभिवड्ढियम्मि वीसा, इयरेसु सवीसती मासे ।।४२८३।। बृ०क०, ४

एत्थ तु पणगं पणगं कारणियं जा सवीसतीमासो ।
सुद्धदसमीट्ठियाण व आसाढीपुण्णिमोसरणं ।।६७।।

इय सत्तरी जहण्णा असीति णउती दसुत्तरसयं च।
जइ वासति मिग्गसिरे दसराया तिण्णि उक्कोसा।।६८।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

काऊण मासकप्पं तत्थेव ठियाणऽतीए मग्गसीरे ।
सालम्बणाण छम्मासितो तु जट्ठोग्गहो होति ।।६९।।

जइ अत्थि पयविहारो चउपडिवयम्मि होइ गंतव्वं ।
अहवावि अणिंतस्सा आरोवणपुव्वनिद्दिट्ठा ।।७०।।

काईयभूमी संथारए य संसत्त दुल्लहे भिक्खे ।
एएहिं कारणेहिं अपत्ते होइ निग्गमणं ।।७१।।
राया सप्पे कुंथू अगणि गिलाणे य थंडिलस्सऽसति ।
एएहिं कारणेहिं अपत्ते होइ निग्गमणं ।।७२।।

६७.१- एत्थ उ पणगं पणगं, कारणियं जाव सवीसतीमासो ।
सुद्धदसमीठियाण व, आसाढी पुण्णिमोसवणा ।।३१५३।। नि०भा०, ३

२- एत्थ उ पणगं पणगं, कारणिगं जा सवीसती मासो ।
सुद्ध दसमी ठियाण व, आसाढी पुण्णिमोसरणं ।।४२८४।। बृ०क०, ४

६८.१- इय सत्तरी जहण्णा, असति नउती दसुत्तरसयं च ।
जति वासति मग्गसिरे, दसरायं तिन्नि उक्कोसा ।।३१५४।। नि०सू०, ३

२- इय सत्तरी जहण्णा, असिती णउई दसुत्तर सयं च ।
जति वासति मग्गसिरे, दसराया तिण्णि उक्कोसा ।।४२८५।।बृ०क०४

३- इअ सत्तरी जहन्ना असिइ नउई वीसुत्तरसयव ।
जइ वासे मग्गसिरे दसराया तिन्नि उक्कोसा ।।५-२।। स्था०वृ०

६९.१- काउण मासकप्पं, तत्थेव ठियाणऽतीत मग्गसिरे ।
सालंबणाण छम्मासिओ उ जेट्ठोग्गहो भणितो ।।३१५६।। नि०भा०, ३

२- काऊण मासकप्पं तत्थेव ठियाणऽतीत मग्गसिरे ।
सालंबणाण छम्मासिओ उ जेट्ठोग्गहो होइ ।।५-२।। स्था०वृ० ५-२

३- काऊणं मासकप्पं तत्थेव ठियाण तीस मग्गसिरे ।
सालंबणाण जिट्ठोग्गहो य छम्मासिओ होई ।।७७५।। प्र०सा०

७०.१- जइ अत्थि पयविहारो, चउपडिवयम्मि होइ णिग्गमणं ।
अहवा वि अणिंतस्स, आरोवणा पुव्वनिद्दिट्ठा ।।३१५७।। नि०भा०, ३

२- अह अत्थि पदवियारो, चउपाडिवयम्मि होति निग्गमणं ।
अहवा वि अणिंताणं, आरोवण पुव्वनिद्दिट्ठा ।।४२८७।। बृ०क०, ४

३- अह अत्थि पयवियारो चउपाडिवयमि होइ निग्गमणं ।
अहवा वि अनिंतस्सा आरोवण सुत्तनिद्दिट्ठं ।।७७६।। प्र०सा०

७१. काइयभूमी संथारए य संसत्तं दुल्लभे भिक्खे ।
एएहिं कारणेहिं, अप्पत्ते होति णिग्गमणं ।।३१५९।। नि०भा०,३

७२. राया कुंथू सप्पे, अगणिगिलाणे य थंडिलस्सऽसती ।
एएहिं कारणेहिं, अपत्ते होइ णिग्गमणं ।।३१५८।। नि०भा०,३

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वासं व न आरेमई पंथा वा दुग्गमा सचिक्खल्ला ।
एएहिं कारणेहिं अइकंते होइ निग्गमणं ।।७३।।
असिवे ओमोयरिए राया दुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एएहिं कारणेहिं अइकंते होति निग्गमणं ।।७४।।

७३. वासं न उवरमती, पंथा वा दुग्गमा सचिक्खिला ।
एएहिं कारणेहिं अइक्कंते होइ णिग्गमणं ।।३१६०।।

७४.१- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठो भये व गेलन्ने।
एएहि कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे ।।२००२।। बृ०क०, २

२- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एएहिं कारणेहिं, अहवा वि कुल गणे संघे ।।३१०४।। नि०भा०, ३

३- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एतेहिं कारणेहिं, अइक्कंते होयऽनिग्गमणं ।।३१६१।। नि०भा०, ३

४- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलण्णे ।
एएहिं कारणेहिं, जयणाए कप्पती काऊं ।।३३५५।। नि०भा०, ३

५- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, नाणे तह दंसण चरित्ते ।।५१७२।। बृ०क० ५

६- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे व वादिदुट्ठे वा ।
आगाढं अन्नलिंगं, कालक्खेवो व गमणं वा ।।६३७४।। बृ०क०, ५

७- असिवे ओमोयरिए रायभए खुहिअ उत्तमट्ठे अ।
पिडिअ गिलाणइसए (णे अद्धसेस) देवया चेव आयरिए ।।७।।ओ०नि०

८- असिवे आमोदरिये, रायदुट्ठे भये व आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, णाणे तह दसणचरित्ते ।।४०५७।। पूर्वार्द्ध

९- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व आगाढे ।
गेलन्न उत्तिमट्ठे, नाणे तह दंसणवचरितत्ते ।।१०१९।। बृ०क०, २

१०-असिवे ओमोयरिए, सागार भए व राय गेलन्ने ।
जो जम्मि जया जुज्जइ, पडिवक्खो तं जहा जोए ।।१६६५।। वही, २

११-असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भये व गेलन्ने ।
एएहिं कारणेहिं, अहवा वि कुले गणे संघे ।।२००२।। वही, २

१२-असिवे ओमोयरिये, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
आबाहाईएसु व, पंचसु ठाणेसु रीइज्जा ।।२७३८।। वही, ३

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

उभओवि अद्धजोयण सअद्धकोसं च तं हवति खेत्तं।
होइ सकोसं जोयण, मोत्तूण कारणज्जाए ।।७५।।
उड्ढमहे तिरियम्मि य, सकोसयं सव्वतो हवति खेत्तं ।
इंदपयमाइएसुं छद्दिसि इयरेसु चउ पंच ।।७६।।

तिण्णि दुवे एक्का वा वाघाएणं दिसा हवइ खेत्तं ।
उज्जाणाओ परेणं छिण्णमंडबं तु अखेत्तं ।।७७।।
दगघट्ट तिन्नि सत्त व उडुवासासु ण हणंति तं खेत्तं ।
चउरट्ठाति हणंती जंघद्धे कोवि उ परेणं ।।७८।।
दव्वट्ठवणाऽऽहारे१ विगई२ संथार३ मत्तए४ लोए५।
सच्चित्ते ६ अचित्ते ७ वोसिरणं गहण-धरणाइं ।।७९।।

पुव्वाहारोसवण जोग विवड्ढीय सत्तिउग्गहणं ।
संचइय असंचइए दव्वविवड्ढी पसत्था उ ।।८०।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

१३- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठ भए व गेलन्ने ।
नाणादितिगस्सऽट्ठा वीसुंभण पेसणणं वा ।।२७४१।। वही, ३

१४- असिवे ओमोयरिए, रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
असती दुल्लहपडिसेवतो य गहणं भवे पादो ।।
भिण्णे वा ज्झामिते वा, पडिणीए साणतेणमदि ।
एएहिं कारणेहिं, णायव्वाऽसंततो असती ।।९८५।। वही, १

१५- असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व गेलन्ने ।
नाणाइतिगस्सट्ठा वीसुंभण पेसेणेणं च ।।५-२।। स्था०वृ०

१६- असिवे ओमोयरिए रायदुट्ठे भए व अगाढे ।
गेलन्ने उत्तिमट्ठे नाणे, तवंदसण चरित्ते ।।१२-१३२।। वही

७५. उभओ वि अद्धजोयण, अद्धकोसं च तं हवति खेत्तं ।
होति सकोसं जोयण, मोत्तूणं कारणज्जाए ।।३१६२।। नि०भा०, ३

७६.१- उड्ढमहे तिरियम्मि य, सक्कोसं हवति सव्वतो खेत्तं ।
इंदपदमादिएसु, छद्दिसि सेसेसु चउ पंच ।३१६३।। नि०भा०, ३

२- उड्ढमहे तिरियं पि य, सकोसगं होइ सव्वतो खेत्तं ।
इंदपदमाइएसुं, छद्दिसि सेसेसु चउ पंच ।।४८४।। बृ०क०, ५

७७. तिण्णि दुवे ए । । वा, वाघाएणं दिसा हवति खेत्ते ।
उज्जाणाउ परेणं, छिण्णमंडवं तु अक्खेत्तं ।।३१६४।। नि०भा०, ३

७८. दगघट्टतिण्णि सत्त व, उडुवासासु ण हणंति ते खेत्तं ।
चउरट्ठाति हणंती, जंघद्धे । । वि तु परेणं ।।३१६५।। वही, ३

७९.१- दव्वट्ठवणाहारे, विगती संथार मत्तए लोए ।
सचित्ते अचित्ते, वोसिरणं गहणधरणादी ।।३१६६।। वही, ३

२- दव्वट्ठवणाऽऽहारे विगई संथारमत्तए लोए ।
सचित्तेऽचित्ते वोसिरणं गहणधरणाइ ।। ।। स्था०वृ०

८०. पुव्वाहारोसवणं, जोगविवड्ढी य सत्तिओ गहणं ।
संचइयमसंचइए, दव्वविवड्ढी पसत्थाओ ।।३१६७।। नि०भा०, ३

विगतिं विगतीभीओ विगइगयं जो उ भुंजए भिक्खू।
विगई विगयसभावं विगती विगतिं बला नेइ।।८१।।
पसत्थ विगईगहणं गरहियविगतिग्गहो य कज्जम्मि।
गरहा लाभपमाणे पच्चय पायप्पडीघाओ।।८२।।

कारणओऽडुगहितेउज्झिऊणगेण्हंतिअण्णपरिसाडी ।
दाउं गुरुस्स तिण्णि उ सेसा गेण्हंति एक्केक्कं।।८३।।
मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुनीलसागरजी तिण्णि तिण्हि गेण्हंति।
संजय-आएसट्ठा भुंजेज्जऽवसेस उज्झंति।।८४।।

धुवलोओ उ जिणाणं णिच्चं थेराण वासवासासु।
असहू गिलाणस्स व, णातिक्कामेज्ज तं रयणिं।।८५।।
मोत्तु पुराण-भावियसट्ठे संविग्ग सेस पडिसेहो।
मा निहओ भविस्सइ भोयणमोए य उड्डाहो।।८६।।
इरिएसण भासाणं मण वयसा काइए य दुच्चिरिए।
अहिगरणकसायाणं संवच्छरिए विओसवणं।।८७।।
कामं तु सव्वकालं पंचसु समितीसु होइ जइयव्वं।
वासासु अहीगारो बहुपाणा मेइणी जेणं।।८८।।
भासणे संपाइमवहो दुण्णेओ नेहछेओ तइयाए।
इरियचरियासु दोसुवि अपेहअपमज्जणे पाणा।।८९।
मणवयणकायगुत्तो दुच्चरियाइं तु खिप्पमालोए।
अहिगरणम्मि दुरूयग पज्जोए चेव दमए य।।९०।।
एगबइल्ला भंडी पासह तुब्भे य डज्झ खलहाणे।
हरणे झामणजत्ता, भाणगमल्लेण घोसणया।।९१।।

८१. विगती विगतीभीतो, वियतिगयं जो उ भुंजए भिक्खू ।
विगति विगतिसहावा, विगती विगतिं बला नेइ ।।३१६८।। वही, ३

८२. पसत्थविगतिग्गहणं, तत्थ वि य असंचइय उ जा उत्ता ।
संचतिय ण गेण्हंती गिलाणमादीण कज्जट्ठा ।।३१६९।।
विगतीए गहणंमि वि, गरहितविगतिग्गहो व कज्जम्मि ।।
गरहा लाभपमाणे, पच्चयपावप्पडीघातो ।।३१७०।। वही, ३

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

८३. कारणे उद्दुगहिते उज्झिऊण गेण्हंति अण्णपरिसाडिं ।
दाउं गुरुस्स तिण्णि उ, सेसा गेण्हंति एक्केक्कं ।।३१७१।। वही, ३

८४.१- उच्चारपासवण खेलमत्तए तिण्णि तिण्णि गेण्हंति ।
संजमआएसट्ठा भिज्जेज्ज व सेस उज्झंति ।।३१७२।। वही, ३
२- उच्चार पासवण खेलमत्तगा य अत्थरण कुसपलालादी ।
संथारया बहुविधा, उज्झंति अणण्ण गेलन्ने ।।५५५।। बृ०क० १

८५. धुवलोओ य जिणाणं, णिच्चं थेराण वासवासासु ।
असहू गिलाणस्स व, तं रयणिं तू णऽतिक्कामे ।।३१७३।।नि०भा०, ३

८६. मोत्तुं पुराण-भावितसड्ढे सच्चित्तसेसपडिसेहो ।
मा होहिति णिद्धम्मो, भोयणमोए य उड्डाहो।।३१७४।। वही, ३

८७. इरिएसण भासाणं मणवयसा कायए य दुच्चरिते ।
अहिकरणकसायाणं, संवच्छरिए वि ओसवणं ।।३१७६।। वही, ३

८८. कामं तु सव्वकालं, पंचसु समितीसु होई जतियव्वं ।
वासासु अहीकारो, बहुपाणा मेदिणी जेणं ।।३१७७।। वही, ३

८९. भासणे संपातिवहो, दुण्णेओ णोहछेदु ततियाए ।
इरितचरिमासु दोसु य, अपेह अपमज्जणे पाणा ।।३१७८।। वही, ३

९०. मण-वयण-कायगुत्तो, दुच्चरियातिं व णिच्चमालोए ।
अहिकरणे तु दुरूवग, पज्जोए चेव दुमए य ।।३१७९।। वही, ३

९१. एगबतिल्लं भंडिं, पासह तुब्भे वि डज्झंतखलहाणे ।
हरणे ज्झामण भाणग, घोसणता मल्लजुद्धेसु ।।३१८०।। वही, ३

अप्पिणह तं बइल्लं दुरुतग्ग ! तस्स कुंभयारस्स ।
मा भे डहीहि गामं अन्नाणि वि सत्त वासाणि ।।९२।।
चंपाकुमारनंदी पंचऽच्छर थेरनयण दुमऽवलए ।
विह पासणया सावग इंगिणि उववाय णंदिसरे ।।९३।।
मार्गदर्शक :- ओहण पडिमा उदयगं पभावऽण्णाय देवदत्ताते ।
मरणुयवाए तायस, णयणं तह भीसणा समणा ।।९४।।
गंधार गिरी देवय, पडिमा गुलिया गिलाण पडिवरेण ।
पज्जोयहरण दोक्खर रण गहणा मेऽज्ज ओसवणा ।।९५।।
दासो दासीवतितो छत्तट्ठिय जो घरे य वत्थव्वो ।
आणं कोवेमाणो हंतव्वो बंधियव्वो य ।।९६।।
खद्धाऽऽदाणियगेहे पायस दट्ठुण चेडरूवाइं ।
पियरो भासण खीरे जाइय लद्धे य तेणा उ ।।९७।।
पायसहरणं छेत्ता पच्चागय दमग असियए सीसं ।
भाउय सेणावति खिंसणा य सरणागतो जत्थ ।।९८।।
वाओदएण राई णासइ कालेण सिगय पुढवीणं ।
णासइ उदगस्स सती, पव्वयराती उ जा सेलो ।।९९।।
उदय सरिच्छा पक्खेणऽवेति चउमासिएण सिगयसमा ।
वरिसेण पुढविराई आमरणगतीउ पडिलोमा ।।१००।।
सेलट्ठि थंभ दारुय लया य वंसी य मिंढगोमुत्तं ।
अवलेहणीया किमिराग कद्दम कुसुंभय हलिद्दा ।।१०१।।
एमेव थंभकेयण, वत्थेसु परूवणा गईओ य ।
मरुयऽच्चंकारिय पंडरज्ज मंगू य आहरणा ।।१०२।।
अवहंत गोण मरुए चउण्ह वप्पाण उक्करो उवरिं ।
छोडुं मए सुवट्ठाऽतिकोवे णो देमो पच्छित्तं ।।१०३।।
वणिधूयाऽच्चंकारिय भट्टा अट्ठसुयमग्गओ जाया ।
वरग पडिसेह सचिवे, अणुयत्ती ह पयाणं च ।।१०४।।

९२. अप्पिणह तं बइल्लं, दुरूवगा तस्स कुंभकारस्स ।
मा भे डइहिति धण्णं, अण्णाणि वि सत्त वरिसाणि ।।३१८१।। वही, ३

९३. चम्पा अणंगसेणो, पंचऽच्छर थेर नयण दुम वलए ।
विह पास णयण सावग, इंगिणि उववाय णंदिवरे ।।३१८२।। वही, ३

९४. बोहण पडिमोहायण, पभाव उप्पाय देवदत्तहे ।
मरणुववाते तावस, नयणं तह भीसणा समणा।।३१८३।। वही, ३

९५. गंधारगिरी देवय, पडिमागुलिया गिलाणपडियरणं ।
पज्जोयहरण पुक्खर, रणगहणे णामओ सवणा ।।३१८४।। वही, ३

९६. दासो दासीवतिओ, छेत्तट्ठी जो घरे य वत्तव्वो ।
आणं कोवेमाणे, हंतव्वो बंधियव्वो य ।।३१८५।। नि० भा०, ३

९७. खन्धादाणि य गेहे, पायस दमचेडरूवगा दट्ठुं ।
पितरोभासण खीरे, जाइय रद्धे य तेणातो ।।३१८६।। वही, ३

९८. पायसहरणं छेत्ता, पच्चागय असियएण सीसं तु ।
भाउयसेणाहिवखिं, सणाहिं सरणागतो जत्थ ।।३१८७।। वही, ३

९९. वाओदएहि राई, णासइ कालेण सिगयपुढवीणं ।
णासइ उदगस्स सतिं, पव्वयराती उ जा सेलो ।।३१८८।। वही, ३

१००. उदगसरिच्छा पक्खेणऽवेति चतुमासिएण सिगयसमा ।
वरिसेण पुढविराती, आमरण गती य पडिलोमा ।।३१८९।। वही, ३

१०१. सेल-ऽट्ठि-थंभदारुयलया य वंसे य मेंढ गोमुत्ती।
अवलेहणि किमि कद्दम कुसुंभरागे हलिद्दा य।।३१९१।। वही, ३

१०२. एमेव थंभकेयण, वत्थेसु परूवणा गतीओ य ।
मरुय अचंकारि य पंडरज्जमंगू य आहरणा ।।३१९०।। वही, ३

१०३. अवहंत गोण मरुते, चउण्हे वप्पाण उक्करो उवरिं ।
छूढो मओ उवट्ठा, अतिकोवे ण देमो पच्छित्तं ।।३१९३।। वही, ३

१०४. घणघूयमच्चंकारिय-भट्टा अट्ठसु य मग्गतो जाया ।
चरणपडिसेवे सचिवे, अणुयत्ती हिं पदाणं च ।।३१९४।। वही, ३

मार्गदर्शक :— आचार्य श्री विजयसागर जी महाराज

णिवचिंत विगालपडिच्छणा य दारं न देमि निवकहणा।
खिंसा णिसि निग्गमणं चोरा सेणावई गहणं ।।१०५।।
नेच्छइ जलूगवेज्जगगहण तम्मि य अणिच्छमाणम्मि ।
गाहावइ जलूगा धणभाउग कहण मोयणया ।।१०६।।
सयगुणसहस्स पागं, वणभेसज्जं वतीसु जायणता ।
तिक्खुत्त दासीभिंदण ण य कोव सयं पदाणं च ।।१०७।।
पासत्थि पंडरज्जा परिण्ण गुरुमूल णाय अभिओगा ।
पुच्छति य पडिक्कमणे, पुव्वब्भासा चउत्थम्मि ।।१०८।।
अपडिक्कम सोहम्मे अभिओगा देवि सक्कतोसरणं ।
हत्थिणि वायणिसग्गो गोतमपुच्छा य वागरणं ।१०९।।
महुरा मंगू आगम बहुसुय वेरग्ग सङ्घपूयाय ।
सातादिलोभ णितिए, भरणे जीहा य णिद्धमणे ।।११०।।
अब्भुवगत गतवेरे, णाउ गिहिणो वि मा हु अहिगरणं ।
कुज्जा हु कसाए वा अविगडितफलं च सिं सोउं ।।१११।।
पच्छित्ते बहुपाणो कालो बलितो चिरं तु ठायव्वं ।
सज्झाय संजमतवे थणियं अप्पा णिओतव्वो ।।११२।।
पुरिमचरिमाण कप्पो मंगल्लं वद्धमाणतित्थंमि ।
इह परिकहिया जिण-गणहराइथेरावलि चरित्तं ।।११३।।
सुत्ते जहा निबद्धं वग्घारिय भत्त-पाण अग्गहणे ।
णाणट्ठी तवस्सी अणहियासि: वग्घारिए गहणं ।।११४।।
संजमखेत्तचुयाणं णाणट्ठि-तवस्सि-अणहियासाणं ।
आसज्ज भिक्खकालं, उत्तरकरणेण जतियव्वं ।।११५।।
उण्णियवासाकप्पो लाउयपायं च लब्भए जत्थ ।
सज्झाएसणसोही वरिसति काले य तं खित्तं ।।११६।।
पुव्वाहीयं नासइ, नवं च छातो अपच्चलो घेत्तुं ।
खमगस्स य पारणए वरिसति असहू व बालाई ।।११७।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- अध्यात्म श्री सुविधिसहाय जी महाराज

१०५. णिवचिंत विकालपडिच्छणा य दाणं ण देमि णिवकहणं ।
खिंसा णिसि णिग्गमणं, चोरा सेणावती गहणं ।।३१९५।। नि०भा०, ३

१०६. नेच्छति जलूग वेज्जे, गहणं तं पि य अणिच्छमाणी तु ।
गेण्हावे जलूगवणा, भाउयदूए कहण मोए ।।३१९६।। वही, ३

१०७. सयगुणसहस्सपागं, वणभेसज्जं जतिस्स जायणया ।
तिक्खुत्त दासिभिंदण, ण य कोहो सयं च दाणं च ।।३१९७।। वही, ३

१०८. पासत्थि पंडरज्जा, परिण्ण-गुरुमूल-णातअभिओगा ।
पुच्छा तिपडिक्कमणे, पुव्वब्भासा चउत्थं पि ।।३१९८।। वही, ३

१०९. अपडिक्कम सोहम्मे, अभिउग्गा देवसक्कओसरणे ।
हत्थिणि वाउस्सग्गे, गोयम-पुच्छा तु वागरणा ।।३१९९।। वही, ३

११०. मथुरा मंगू आगम बहुसुय वेरग्ग सङ्घपूया य ।
सातादि-लोभ-णितिए, मरणे जीहाइ णिद्धमणे ।।३२००।। वही, ३

१११. अब्भुवगयगयवेरा, णातुं गिहिणो वि मा हु अहिगरणं ।
कुज्जाहि कसाए वा, अविगडियफलं व सिं सोउं ।।३२०१।। वही, ३

११२. पच्छित्तं बहुपाणा, कालो वलिओ चिरं च ठायव्वं ।
सज्झाय-संजम-तवे, धणियं अप्पा णियोतव्वो ।।३२०२।। वही, ३

११३. पुरिमचरिमाण कप्पो, तु मंगलं वद्धमाणतित्थम्मि ।
तो परिकहिया जिणगण-हरा य थेरावलिचरित्तं ।।३२०३।। वही, ३

११४. सुत्ते जहा णिबंधो, वग्घारियभत्तपाणमग्गहणं ।
णाणट्ठि तवस्सी यऽणहियासि वग्घारिए गहणं ।।३२०४।। वही, ३

११५. संजमखेत्तचुयाणं, णाणट्ठि-तवस्सि-अणहियासाणं ।
आसज्ज भिक्खकालं, उत्तरकरणेण जइयव्वं ।।३२०५।। वही, ३

११६. ठवियवासाकप्पा, लाउयपातं च लब्भती जत्थ ।
सज्झा एसणसोही, वरिसइकाले य तं खेत्तं ।।३२०६।। वही, ३

११७. पुव्वाहीयं नासति, नवं च छतो ण अपच्चलो घेत्तुं ।
खमगस्स य पारणए, वरसति असहू य बालादी ।।३२०७।।नि० भा०, ३

बाले सुत्ते सुई कुंडसीसग छत्तए अपच्छिमए ।
णाणट्ठी तवस्सी अणहियासि अह उत्तरविसेसो।।११८।।द०नि०

●

११८. **बाले सुत्ते सूती, कुडसीसगछत्तए य पच्छिमए ।**
णाणट्ठि तवस्सी अणहियासि अह उत्तर विसेसा ।।३२०८।।नि०भा०,३

●

चतुर्थ अध्याय

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में इङ्गित दृष्टान्त

जैनपरम्परा में प्राचीन काल से ही जन-जन के अन्तर्मानस में धर्म, दर्शन और अध्यात्म के सिद्धान्तों को प्रसारित करने की दृष्टि से प्रसिद्ध कथाओं, विशेषत: धर्मकथाओं का आश्रय लिया गया है। जैन धर्मकथा साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसमें सत्य, अहिंसा, परोपकार, दान, शील आदि सद्गुणों की प्रेरणायें सन्निहित होना है। धर्मकथा के विषय का प्रतिपादन करते हुए आचार्य हरिभद्र ने भी कहा है— "धर्म को ग्रहण करना ही जिसका विषय है, क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, आकिञ्चन्य, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य की जिसमें प्रधानता है, अणुव्रत, दिग्व्रत, देशव्रत, अनर्थदण्डविरति, सामायिक, प्रोषधोपवास, उपभोग-परिभोग तथा अतिथिसंविभाग से जो सम्पन्न है, अनुकम्पा, अकामनिर्जरादि पदार्थों से जो सम्बद्ध है, वह धर्मकथा कही जाती है।"[1]

प्राकृत गाथा-निबद्ध निर्युक्तियों में सङ्केतित दृष्टान्त कथायें भी धर्मकथायें हैं। अधिकरण अर्थात् पाप के दुष्परिणाम, क्षमा का माहात्म्य और चारों कषायों-क्रोध, मान, माया और लोभ के दुष्परिणामों को बताने वाली कथाओं का सङ्केत कर अधिकरण, कषायादि से विरत रहने एवं क्षमा आदि धर्मों का पालन करने की प्रेरणा दी गई है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति[2] में अधिकरण अर्थात् कलह, पाप, दुष्प्रवृत्ति आदि सम्बन्धी द्विरुक्तक, चम्पाकुमारनन्दी और चेट द्रमक के दृष्टान्तों में असंयमी या गृहस्थ जनों में परस्पर कलह और शत्रुता के कारण वध, खलिहान जलाने तथा युद्ध में बन्दी बनाने जैसे प्रतिशोधात्मक कृत्य किये जाते हैं। फिर भी जब एक पक्ष द्वारा दूसरे पक्ष से क्षमायाचना की जाती है तो दूसरा पक्ष उसके शत्रुतापूर्ण कृत्यों और अक्षम्य अपराध को अनदेखा कर क्षमा प्रदान कर देता है।

इन दृष्टान्तों द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि जब असंयमी लोग भयङ्कर अपराधों के लिए क्षमायाचना और क्षमादान कर सकते हैं तब संयमी साधु तो अवश्य ही अपने प्रति किये गये अपराधों को क्षमा कर सकते हैं और स्वकृत अपराधों के लिए दूसरों से क्षमा माँग सकते हैं।

उपर्युक्त दृष्टान्तों के अतिरिक्त कषाय के दुष्परिणाम को बताने वाले चार दृष्टान्त-सङ्केत प्राप्त होते हैं। इनमें अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय से सम्बन्धित हल जोतने

वाले मरुत, अनन्तानुबन्धी मानविषयक श्रेष्ठिपुत्री अत्यहङ्कारिणी भट्टा, अत्यधिक माया कषाय से युक्त श्रमणी पाण्डुरार्या तथा लोभी श्रमण आर्यमङ्गु के दृष्टान्त प्राप्त होते हैं। इस निर्युक्ति में सङ्केतित दृष्टान्तों को इसप्रकार सूचीबद्ध कर सकते हैं :—

१. अधिकरण अर्थात् कलह सम्बन्धी दृष्टान्त

I. द्विरुक्तक दृष्टान्त

II. चम्पाकुमारनन्दी दृष्टान्त

III. भृत्य द्रमक दृष्टान्त

२. कषाय से सम्बन्धित दृष्टान्त

I. क्रोधकषायविषयक मरुत दृष्टान्त,

II. मानकषाय विषयक अत्यहङ्कारिणी भट्टा दृष्टान्त,

III. मायाकषाय विषयक पाण्डुरार्या दृष्टान्त,

IV. लोभकषाय विषयक आर्यमङ्गु दृष्टान्त।

निर्युक्ति साहित्य में कथाओं को, उनके प्रमुख पात्रों के नाम-निर्देश के साथ एक, दो या कभी-कभी तीन गाथाओं में कथा के मुख्य बिन्दुओं के कथन द्वारा, इङ्गित किया गया है। कथा का पूर्ण स्वरूप परवर्ती साहित्य से ही ज्ञात हो पाता है, वह भी मुख्यत: चूर्णि साहित्य से। **निशीथभाष्यचूर्णि**[1] और **दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि**[2] में उपर्युक्त कथायें दिये गये क्रम से उपलब्ध हैं। नि०भा०चू० में ये कथायें विस्तृत रूप में वर्णित हैं जबकि **द०चू०** में संक्षिप्त रूप में वर्णित हैं। इन दोनों चूर्णियों के अतिरिक्त यथाप्रसङ्ग **बृहत्कल्पभाष्य**[3] और **आवश्यकचूर्णि**[4] में भी ये कथायें प्राप्त होती हैं। इन चूर्णियों में प्राप्त विवरणों के आधार पर ही इन कथाओं का स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है—

१. अधिकरण सम्बन्धी द्विरुक्तक दृष्टान्त

एगबइल्ला भंडी पासह तुब्भे डज्झ खलहाणे ।
हरणे झामणजत्ता, भाणगमल्लेण घोसणया ।।९१।।
अप्पिणह तं बइल्लं दुरुतग्ग! तस्स कुंभयारस्स ।
मा भे डहीहि गामं अन्नाणि वि सत्त वासाणि ।।९२।।

– दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति गाथा[5]

एक्को कुंभकारो भंडिं कोलालभंडस्स भरेऊण दुरुत्तयं नाम पच्चंतगामं गतो। तेहिं दुरुत्तइच्चेहिं गोहेहिं तस्स एगं बइल्लं हरिउकामेहिं वुच्चति पेच्छह इमं अच्छेरं,

भंडी एगेण बइल्लेण बच्चति, तेण भणितं पेच्छह इमस्स गामस्स खलधाणाणि डझंतित्ति। तेहिं तस्स सो बइल्लो हरितो, तेण जाइता देह बइल्लं ते भणिंति। तुमं एक्केए चेव बइल्लेण आगतो। जाहे ण दिंति ताहे तेण पतिवरिसं खलीकतं धण्णं, सत्तवासाणि झामियं, ताहे दुरुत्तयगामेल्लएहिं एगंमि महामहे भाणओ भणितो-उग्घोसेहिं, जस्स अवरद्धं तं मरिसावेमो, मा णे सकुले उच्छादेसु, भाणएण उग्घोसितं, ततो कुम्भकारो भणति-अप्पिण्णध तं बइल्लं गाथा पच्छा तेहिं विदिन्नो खामितो। जति ताव तेहिं असंजतेहिं अण्णाणीहिं होतएहिं खामिता एत्तिया अवराहा, तेणवि य खमियं, किमंग पुण संजतेहिं नाणीहिं होतएहिं जं कतं तं सव्वं पज्जोसवणाए उवसामेतव्वं।

– द० चू०।

'तत्थ "दुरूवग" त्ति उदाहरणं-आयरियजणवयस्स अंतग्गामे एक्को कुंभारो। सो कुडगाणं भंडिं भरिऊण पच्चंतगा दुरूतगं णामयं गतो। तेहिं य दुरूतगल्लेहिं गोहेहिं एगं बइल्लं हरिठकामेहिं भण्णति—

"भो भो पेच्छह इमं अच्छेरं, एगेण बइल्लेण भंडी गच्छति"। तेण वि कुंभकारेण भणियं— "पेच्छह भो इमस्स गामस्स खलहाणाणि डज्झति।" अतिगया भंडी गाममज्झे ठिता। तस्स तेहिं दुरूवगव्वेहिं छिद्दं लभिऊण एगो वइल्लो हडो। विक्कयं गया कुलाला, ते य गामिल्लया जातित-देह बइल्लं। ते भणंति-तुमं एक्केण चेव बइल्लेण आगयो। ते पुणो जातिता। जाहे ण देंति ताहे सरयकाले सव्वधण्णाणि खलधाणेसु कतानि, ताहे अग्गी दिण्णो। एवं तेण सत्त वरिसाणि झामिता खलधाणा। ताहे अट्ठमे वरिसे दुरूवगगामेल्लएहिं मल्लजुद्धमहे वट्टमाणो भणगो भणितो-घोसिहि भो जस्स अम्हेहिं अवरद्धं तं खामेमो, जं च गहियं तं देमो, मा अम्ह सस्से दहउ। ततो भाणएण उग्घोसियं।।३१८०।।

ततो कुंभकारेण भाणगो भणितो भो इमं घोसेहि—.....

भाणगेण उग्घोसियं तं। तेहिं दुरूवगव्वेहि सो कुम्भकारो खामितो। दिण्णो य से बइल्लो। इमो य से उवसंहारो—

जति ता तेहिं असंजतेहिं अण्णाणीहिं होंतेहिं खामियं तेण वि खमियं, किमंग पुण संजएहिं नाणीहिं य। जं कयं तं सव्वं पज्जोसवणाए खमेयव्वं च, एवं करंतेहिं संजमाराहणा कता भवति।।३१८१।। **–नि० भा० चू०।**

कथा सारांश[6]

एक कुम्हार मिट्टी के बर्तनों से भरी बैलगाड़ी लेकर द्विरुक्तक (द्वि-अर्थी भाषा बोलने वाले) नाम के समीपवर्ती गाँव में पहुँचा। कुम्हार का एक बैल चुराने के अभिप्राय

से द्विरुक्तकों ने कहा— हे! हे! लोगों आश्चर्य देखो! एक बैल वाली गाड़ी है। इस पर कुम्हार बोला— हे लोगों! देखो! इस गाँव का खलिहान जल रहा है और उसने गाड़ी गाँव के बीच ले जाकर खड़ी कर दी। मौका देखकर गाँव वालों ने उसका एक बैल चुरा लिया। बर्तन बिक जाने के बाद आने पर उसने गाँव वालों से बैल वापस देने की बार-बार याचना की। गाँव वालों ने कहा— तुम एक ही बैल के साथ आये हो। बैल वापस न मिलने से क्रुद्ध कुम्हार शरदकाल में गाँव वालों के धान्य से भरे खलिहान को लगातार सात वर्ष तक आग लगाता रहा। आँठवें वर्ष गाँव वाले इकट्ठे होकर घोषणा करवाये कि जिसके प्रति भी हमने अपराध किया है, वह हमें क्षमा करे, परिवार सहित हमारा नाश न करे। तब कुम्हार बोला— बैल मुझे वापस दो। बैल मिल जाने पर उसने गाँव वालों को क्षमा कर दिया।

यदि उन असंयत अज्ञानी लोगों द्वारा स्वकृत अपराध हेतु क्षमा माँगी गयी और उस असंयमी कुम्हार ने क्षमा भी कर दिया, तो पुनः संयत ज्ञानियों द्वारा भी अपने प्रति किये गये अपराध के लिए पर्युषण पर्व में अवश्य क्षमा कर देनी चाहिए। ऐसा करने से संयम आराधना होती है।

२. चम्पाकुमार नन्दी या अनङ्गसेन दृष्टान्त

चंपाकुमारनंदी पंचऽच्छर थेरनयण दुमऽवलए।
विह पासणया सावग इंगिणि उववाय णंदिसरे ।।९३।।
बोहण पडिमा उदयण पभावउप्पाय देवदत्ताते।
मरणुयवाए तायस, यणं तह भीसणा समणा ।।९४।।
गंधार गिरी देवय, पडिमा गुलिया गिलाण पडियरेण।
पज्जोयहरण दोक्खर रण गहणा मेऽज्ज ओसवणा ।।९५।।
दासो दासीवतितो छत्तद्वि य जो घरे य वत्थव्वो।
आणं कोवेमाणो हंतव्वो बंधियव्वो य।।९६।।

– द०नि०।[१]

अहवा दिट्ठंतो उद्दायणो राया तारिसे अवराहे पज्जोतो सावतेत्ति - तारिसे अवराधे पज्जोओ सावगोत्ति काऊण मोत्तूण खमितो। एवं पज्जोसवणाए परलोगभीतेण सव्वस्स खामेयव्वं।। **–द०चू०।**

इहेव जंबुद्दीवे अद्धभरहे 'चंपा' णाम णगरी, "अणंगसेणो' णाम सुवण्णगारो। सो य अतीव थीलोलो। सो य जं रूववई कण्णं पासति तं बहुं दविणजायं दाउं परिणेइ। एवं किल तेण पंच इत्थिसया परिणीया। सो ताहिं सद्धिं माणुस्सए भोगे भुंजमाणो

विहरइ। इतो य 'पंचसेलं' णाम दीवं। तत्थ 'विज्जुमाली' णाम जक्खो परिवसइ। सो य चुतो। तस्स दो अग्गमहिसीतो [illegible] ताओ [illegible] चिंतेंति-किंचिं उवप्पलोभेमो। ताहिं य दिट्ठो 'अणंगसेणो'। सुंदरे रूवे विउव्विऊण तस्स 'असोगवणियाए' णिलीणा। ताओ दिट्ठातो अणंगसेणेण। ततो य तस्स मणक्खेवकरे विब्भमे दरिसेंति। अक्खितो सो ताहिं, हत्थं पसारेउमारद्धो।

ताहे भणितो- "जति ते अम्हेहिं कज्जं तो पंचसेलदीवं एज्जह" त्ति भणित्ता-ताओ अदंसणं गता।

इयरो विविहप्पलावीभूओ असत्थो रण्णो पण्णगारं दाऊण उग्घोसणपडहं णीणावेति इमं उग्घोसिज्जति— "जो अणंगसेणयं पंचसेलं दीवं पावेति तस्स सो दविणस्स कोडिं पयच्छति" एवं घुस्समाणे णावियथेरेण भणियं— 'अहं पावेमि' त्ति, छिक्को पडहो। तस्स दिण्णा कोडी।

ते दुवे गहियसंबला दूरूढा णावं। जाहे दूरं गया ताहे णाविएण पुच्छितो— किंचि अग्गतो जलोवरि पासंसि?

तेण भणियं "ण व" त्ति।

जाहे पुणो दूरं गतो ताहे पुणो पुच्छति, एतेण भणियं—किंचि माणुससिरप्पमाणं घणंजण-वण्णं दीसति।

णाविएण भणियं— एस पंचसेलदीवणगस्स धाराए ठितो वडरुक्खो।

एसा णावा एतस्स अहेण जाहिति, एयस्स परभागे जलावत्तो।

तुमं किंचि संबलं घेत्तुं दक्खो होउं वडसाल विलग्गेज्जसि

अहं पुण सह णावाए जलावत्ते गच्छीहामि।

तुमं पुण जाहे जलं वेलाए उअत्तं भवति ताहे णगधाराए णगं आरुभित्ता परतो पच्चोरुभित्ता पंचसेलयं दीवं जत्थ ते अभिप्पेयं तत्थ गच्छेज्जसु।

अण्णे भणंति

(तुमं एत्थ वडरुक्खे आरूढो ताव अच्छसु, जाव उ संज्झावेलाए महंता पक्खिणो आगमिष्यंति पंचसेलदीवातो। ते रातो वसित्ता पभाए पंचसेलगदीवं गमिस्संति। तेसिं चलणविलग्गो गच्छेज्जसु।)

जाव य सो थेरो एवं कहेति ताव संपत्ता वडरुक्खं णावा।

'अणंगसेणो' वडरुक्खमारूढो।

णावियथेरो सह णावाए जलावत्ते गतो।

ऐतेसिं दोण्ह पगाराणं अन्नतरेण तातो दिट्ठातो। ताहि संभट्ठो, भणिओ य ण एरसिणे असुइणा देहेण अम्हे परिभुज्जामो।

किंचि बाल-तवचरणं काउं णियाणेण य इहे उववज्जसु, ताहे सह अम्हेहिं भोगे भुंजहसि।

ताहिं य से सुस्सादुमते पज्जुप्पकले य दत्ते उदगं च। सीयलच्छायाए पासुत्तो। ताहिं य देवताहिं पासुत्तो चेव करयलपुडे छुभित्ता चंपाए सभवणे विखत्तो, विबुद्धो य पासति—सभवणं सयणपरिजणं च। आढत्तो पलविउं "हासे पहासे"।

लोगेण पुच्छिज्जंतो भणति-दिट्ठ सुयमणुभूयं जं वत्तं पंचसेलए दीवे।

तस्स य वयंसे णाइलो णाम सावओ, सो से जिणपण्णत्तं धम्मं कहेति- "एयं करेहि। ततो सोधम्माइसु कप्पेसु दीहकालठितीओ सह वेमाणिणीहिं उत्तमे भोगे भुंजिहिसि, किमेतेहिं वधूतेहिं वाणमंतरीएहिं अप्पकालट्ठितीएहिं"।

सो तं असद्दहंतो सयणपरियणं च अगणंतो णियाणं काउ इंगिणिमरणं पडिवज्जति। कालगओ उववण्णो पंचसेलए दीवे 'विज्जुमाली णाम जक्खो', हासपहासाहिं सह भोगे भुंजमाणो विहरति।

सो वि णाइलो सावगो-सामण्णं काउं आलोइअ-पडिक्कंतो कालं काउं अच्चुते कप्पे सामाणितो जातो। सो वि तत्थे विहरति।

अण्णया णंदीसरवरदीवे अट्ठाहिमहिमणिमित्तं सयं इंदाणित्तेहि अप्पणऽप्पणो णितोगेहिं णिउत्ता देवसंघा मिलंति।

'विज्जुमालि' जक्खस्स य आउज्जणियोगो। पडहमणिच्छंतो बला आणीतो देवसंघस्स य दूरत्थो आयोज्जं वायंतो, णाइलदेवेण दिट्ठो। पुव्वाणुरागेण तप्पडिबोहणत्थं च णाइल देवो तस्स समीवं गतो। तस्स य तेयं असहमाणो पडहमंतरे देति।

णाइलदेवेण पुच्छितो— मं जाणसि त्ति।

विज्जुमालिणा भणियं — को तुब्भे सक्काइए इंदे ण याणइ?

देवेण भणियं — परभवं पुच्छमि, णो देवत्तं।

विज्जुमालिणा भणियं — "ण जाणमि"।

ततो देवेण भणियं — "अहं ते परभवे चंपाए णगरीए वयंसओ आसी णाइलो णाम। तुमे तया मम वयणं ण कयं तेण अप्पिड्ढिएसु उववण्णो, तं एवं गए वि जिणप्पणीयं धम्मं पडिवज्जसु। धम्मो से कहितो, पडिवण्णो य।

ताहे सो विज्जुमाली भणति — इदाणिं किं मया कायव्वं?

अच्चुयदेवेण भणियं — बोहिणिमित्तं जिण-पडिमा अवतारणं करेहि। ततो विज्जुमाली अट्ठाहियमहिवन्ते गंतुं चुल्लिहिमवंतं गोसीसदारुमयं पडिमं देवयाणुभावेण णिव्वत्तेति, रयण विचित्ताभरणेहिं सव्वालंकारविभूसियं करेति, अण्णस्स य गोसीसचंदणदारुस्स मज्झे पक्खिवति, चिंतेति य "कत्थिमं णिवेसेमि"।

इतो य समुद्दे वणियस्स पवहणं दुच्चा पुणो गहियं डोल्लति, तस्स य डोलायमाणस्स छम्मासा वट्टति। सो य वणिओ भीतोव्विग्गो धूवकडच्छुयहत्थो इट्ठदेवया-णमोक्कारपरो अच्छति। विज्जुमालिणा भणियं— "भो भो मणुया अज्जं पभाए इमं ते जाणपत्तं वीतीभए णगरे कूलं पाविहिति। इमं च गोसीसचंदणदारुं, पुरजणवयं उदायणं च रायाणं मेलेउं भणेज्जासि-एत्थ देवाहिदेवस्स पडिमं करेज्जह" एसा देवाणवत्ती।

तओ देवाणुभावेण, नावा पत्ता वीईभयं।

तओ वणिओ अग्घं घेत्तुं गओ रायसमीवं, भणियं च तेण "इत्थ गोसीसचंदणे देवाधिदेवस्स पडिमा कायव्वा।" सव्व जहावत्तं वणिएण रण्णो कहियं, गओ वणिओ।

रण्णा वि पुरचतुवेज्जे (वण्णें) मेलेउं अक्खियं अक्खाणयं। सद्दिआ वणकुट्टगा "इत्थ पडिमं करेहि" त्ति।

कते अधिवासणे बंभणेहिं भणियं - देवाहिदेवो बंभणो तस्स पडिमा कीरउ, वाहितो कुठारो ण वहति।

अण्णेहिं भणियं - विण्हु देवाधिदेवो। तहावि तं ण वहति।

एवं खंद रुद्दाइया देवयगणा भाणेत्ता सत्थाणि वाहिताणि ण वहंति। एवं संकिलिस्संति। इतो य पभावतीए आहारो रण्णो उवसाहितो।

जाहे राया तत्थऽवक्खित्तो ण गच्छत्ती ताहे पभवातीए दासचेडी विसज्जिता - गच्छ रायाणं भणाहि - वेलाइक्कमो वट्टेति, सव्वमुवसाहियं किण्ण भुंजह त्ति?

गया दासचेडी, सव्वं कहियं।

ततो रातिणा भणियं - सुहियासि, अम्हं इमेरिसो कालो वट्टति। पडिगया दासचेडी। ताए दासचेडीए सव्वं पभावतीए कहियं। ताहे पभावती भणति - "अहो मिच्छद्दंसणमोहिता देवाधिदेवं पि ण मुणंति"।

ताहे पभावती ण्हाया कयकोउयमंगला सुक्किकल्ल-वास-परिहाण-परिहया बलि-पुप्फ-धूव-कडच्छूय-हत्था गता।

ततो पभावतीए सव्वं बलिमादिकाउं भणियं - "देहाधिदेवो महावीरवद्धमाणसामी, तस्स पडिमा कीरउ" त्ति पहराहि। वाहितो कुहाडो, एगधाए चेव दुहा जात, पेच्छंति

य पुव्वणिव्वत्तियं सव्वालंकारभूसियं भगवओ पडिमं, सा णेउ रण्णा घरसमीवे देवाययणं काउं तत्थ विट्ठया।

तत्थ किण्हगुलिया णाम दासचेडी देवयमुस्समकारिणी णिउत्ता। अट्ठमि-चाउद्दसीसु पभावती देवी भत्तिरागेणं सयमेव णट्टोवहारं करेति।

राया वि तयाणुवत्तीए मुरए पवाएति।

अण्णया पभावतीए णट्टोवहारं करेंतीए रण्णा सिरच्छाया ण दिट्ठा। "उप्पाउ" त्ति काउं अमंगुल-चित्तस्स रण्णो णट्टसममुरवक्खोड़ा (ण) पडंति त्ति रुट्ठा महादेवी "अवज्ज" त्ति काउं।

ततो रण्णा लवियं - "णो मे अवज्जा, मा रूससु, इमेरिसो उप्पाओ दिट्ठो, ततो चिताकुलताए मुरवक्खोडयाणचुक्को" त्ति।

ततो पभावतीए लवियं - जिणसासणं पव्वण्णेहिं मरणस्स ण भेयव्वं।

अण्णया पुणो वि पभावतीए ण्हायकयकोउयाते दासचेडी वाहित्ता "देवगिहपवेसा सुद्धवासा आणेहि" त्ति भणिया।

ते य सुद्धवासा आणिज्जमाणा कुसुंभरागरत्ता इव अंतरे संजाता उप्पायदोसेण। पभावतीए अद्दाए मुहं णिरक्खंतीए ते वत्था पणामिता।

ततो रुट्ठा पभावती "देवयायणं पविसंतीए किं मे अमंगलं करेसि त्ति, किमहं वासघरपवेसिणि" त्ति, अद्दाएणं दासचेडी संखावत्ते आहया। मता दासचेडी खणेण। वत्था वि साभाविता जाता।

पभावति चिंतेति - "अहो मे णिरवराहा वि दासचेडी वावातिया, चिराणुपालियं च मे थूलगपाणाइवायवयं भग्गं, एसो वि मे उप्पाउ" त्ति।

ततो रायाणं विण्णवेति - "तुब्भेहिं अणुण्णाया पव्वज्जं अब्भुवोमि। मा अपरिचित्तकामभोगा मरामि" त्ति।

रण्णा भाणियं - "जति मे सद्धम्मे बोहेहिसि" त्ति।

तीए अब्भुवगया णिक्खंता, छम्मासं संजममणुपालेत्ता आलोइयपडिक्कंता मता उववन्ना वेमाणिएसुं।

ततो पासित्ता पुव्वं भवं पुव्वाणुरागेण संसारविमोक्खणत्थं च वहूहिं वेसंतरेहिं रण्णो जइणं धम्मं कहेति।

राया वि तावसभत्तो तं णो पडिवज्जेति।

ताहे पभावतीदेवेणं तावसवेसो कतो, पुप्फफलोदयहत्थो रण्णो समीवगं गतो। अतीव एगं रमणीयं फलं रण्णे समप्पियं। रण्णा अग्घायं सुरभिगंधं ति, आलोइयं

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

चक्खुणा सुरूवं ति, आसातिय अम (य) रसावम ति।

रण्णा य पुच्छित्तो तावसो - कत्थ एरिसा फला संभवंति?

इतो णाइदूरासण्णे तावसासमे एरिसा फला भवंति।

रण्णा लवियं - देंसेहि मे तं तावसासमं, ते य रुक्खा।

तावसेण भणियं - एहि, दुयग्गा वि त वयामो। दो वि पयाता।

राया य मउडातिएण सव्वालंकारविभूसितो गतो पेच्छति य मेहणिगुरुं बभूतं वणसंडं।

तत्थ पविट्ठो दिट्ठो तावसासमो, तावसाऽऽसमे य पेच्छति स दारे पत्ते गंधं दिव्वं।

दिट्ठिते य मंतेमाणे णिसुणेइ एस राया एगागी आगतो सव्वालंकारो मारेउं गेण्हामो से आभरणं।

राया भीतो पच्छओसक्किउमारद्धो।

तावसेण य कूवियं - धाह धाह एस पलातो गेण्ह।

ताहे सव्वे तावसा भिसियगणे तियंतियकमंडलुहत्था धाविता, हण हण गेण्ह गेण्ह मारह त्ति भणंता - रण्णो अणुमग्गतो लग्गा।

राया भीतो पलायंतो पेच्छइ - एगं महंतं वणसंडं। सुणेति तत्थ माणुसालावं। एत्थ रणं ति मण्णमाणो तं वणसंडं पविसति। पेच्छइ य तत्थ चंदमिव सोमं, कामदेवमिव रूववं, रागकुमारमिव सुणेबत्थं, बहस्सतिं व सव्वसत्थविसारयं, बहूणं समणाणं सावगाणं साविगाण य स्सरणे सरेणं धम्ममक्खायमाणं समणं।

तत्थ राया गतो सरणं सरणं भणंतो।

समणेण य लविय - "ते ण भेतव्वं" त्ति।

"छुट्ठोसि" त्ति भणिता तावसा पडिगता।

राया वि तेसिं विप्परिणतो इसि आसत्थो। धम्मो य से कहितो, पडिवण्णो य धम्मं।

पभावतिदेवेण वि सव्वं पडिसधरियं।

राया अप्पाणं पेच्छति सिंघासणत्थो चेव चिट्ठामि, ण कहिं वि गतो आगतो वा, चिंतेति य किमेयं ति?

पभावतिदेवेण य आगासत्थेण भणियं - सव्वमेयं मया तुज्झ पडिबोहणत्थं कयं, धम्मे ते अविघं भवतु, अण्णत्थ वि मं आवतकप्पे संभरेज्जासि त्ति लवित्ता गतो पभावती देवो।

सव्वपुरजणवएसु पारंपरिणणिग्घोसो णिग्गतो-वीतीभए णगरे देवावतारिता पडिमा त्ति।

इतो य 'गंधरा' जणवयातो सावगो पव्वइतुकामो सव्वतित्थकराणं जम्मण-णिक्खमण-केवलुप्पाय-णिव्वाणभूमीओ दट्ठुं पडिणियत्तो पव्वयामि त्ति।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ताहे सुत "वयरगिरिगुहाए" रिसभातियाण तित्थकराण सव्वरयणविचित्तियातो कणगपडिमाओ।

साहू सकासे सुणंत्ता ताओ दच्छामि त्ति तत्थ गतो। तत्थ देवताराधणं करेत्ता विहाडियाओ पडिमाओ।

तत्थ सो सावतो थयथुतीहिं थुणंतो अहोरत्तं णिवसितो। तस्स णिम्मलरयणेसु ण मणागमवि लोभो जातो।

देवता चिंतेति - "अहो माणुस मलुद्ध" ति।

तुट्ठा देवया, "बूहिं वरं" भणंती उवट्ठिता।

ततो सावगेण लाविय - "णियत्तो हं माणुसएसु कामभोगेसु किं मे वरेण कज्जं ति?

"अमोहं देवतादंसणं" ति भणित्ता देवता अट्ठसयं गुलियाणं जहाचिंतितमणोरहाणं पणामेति।

ताओ गहिताओ सावतेण, ततो णिग्गतो। सुयं चणण जहा बीतिभए णगरे सव्वालंकारविभूसिता देवावतारिता पडिमा। तं दच्छामि ति, तत्थ गतो, वंदिता पडिमा। कति वि दिणे पज्जुवासामि त्ति तत्थेव देवतायतणे ठितो, तो सो तत्थ गिलाणो जाति। "देसितो सावगो" काउं कण्हगुलियाए पडियरितो। तुट्ठो सावगो। किं मम पव्वतितुकामस्स गुलियाहिं। एस भोगत्थिणी तेण तीसे जहाचिंतयमणोरहाण अट्ठसयं गुलियाणं दिण्णं, गतो सावगो।

ततो वि किण्हगुलियाए विण्णा (स) णत्थं किमेयाओ सव्वं जहाचिंतियमणोरहाओ उ णेति जइ सच्चं तो "हं उत्तत्तकणगवण्णा सुरूवा सुभगा य भवामी— ति एगा गुलिया भक्खिया। ताहे देवता इव कामरूविणी परावत्तियवेसा उत्तत्तकणगवण्णा सुरूवा सुभगा य जाया।

ततो पभिति जणो भासिउमाढत्तो एस किण्हगुलिया देवताणुभावेण उत्तत्तकणगवण्णा जाया, इयाणिं होउं से णामं "सुविण्णगुलिय" त्ति, तं च घुसितं सव्वजणवएसु।

ततो सा सुवण्णगुलिगा गुलिग-लद्धपच्चया भोगत्थिणी एगं गुलियं मुहे पक्खिविउं चिंतेति- "पज्जोयणो मे राया भत्तारो भविज्ज" त्ति।

बीतीभयाओ उज्जेणी किल असीतिमित्तेसु जोयणेसु।

तत्थ व अकम्हा रायसभाए पज्जोयस्स अग्गतो पुरिसा कहं कहंति- "वीतीभते णगरे देवावतारियपडिमाए सुस्सूसकारिगा कण्हगुलिगा देवताणुभावेण सुवण्णगुलिगा जाता, अतीत सोहग्गलावन्नजुत्ता बहुजणस्स पत्थणिज्जा जाता।"

तं सुणेत्ता पज्जोओ तस्स गुलुम्मातितो दूतं विसज्जेति उदायणस्स - "एयं सुवण्णगुलियं समं विसज्जेसु" त्ति।

गओ दूतो, विण्णत्तो उदायणो।

उदायणेण रुट्ठेण विसज्जितो, अस्सकारियाऽसम्माणितो य दूतो। लाहातं दूतेण पज्जोयस्स कहियं।

पुणो पज्जोएण रहस्सितो दूतो विसज्जिओ सुवण्णगुलियाए जइ सं इच्छसि वा तोऽहं रहस्सियमागच्छामि।

तीए भणियं - जतिं पडिमा गच्छति तो गच्छामि, इयरहा णो गच्छे।

गंतुं दूतेण कहियं पज्जोयस्स।

ततो पज्जोतोऽणलगिरिणा हत्थिरयणेण[1] सण्णद्धणिमियगुडेण अप्पपरिच्छडेणागतो, अहोरत्तेण पत्तो, पओसवेलाए पविट्ठा चरा, कहियं सुवण्णगुलियाते।

तत्थ य बालवसंतकाले लेपगमहे वट्टमाणे पुव्वकारिता पज्जोएण लेपगपडिमा मंडियपसाधिता गीताओज्जणिग्घोसेण रायभवणं पवेसिता देवतावतारियपडिमाययणं च।

भवियव्वताए छलेण य तम्मि आययणे सा ठविता। इयरा देवावतारियपडिमा कुसुमो -मालियगीयवाइत्तणिग्घोसेण सव्वजणसमक्खे लेप्पगछलेण णिता सुवण्ण-गुलिगा य।

पडिमं सुवण्णगुलिगं च पज्जोतो हरिउं गतो।

जं च रयणिंऽणलगिरी वीतीभए णगरे पवेसितो तं रयणिं अंतो जे गया तेऽणलगिरिणो गंधहत्थिणो गंधेण आलाणखंभं भंतु सव्वे वि लुलिया सव्वजणस्स य जायंति।

महामंतिजणेण य उण्णीयं णूणं एत्थऽणल गिरी हत्थी खंभविप्पणट्ठो आगतो, अण्णो वा कोइ वणहत्थी।

पभाए रण्णा गवेसावियं। दिट्ठोऽणलगिरिस्स आणिमलो। पवत्तिबाहतेणकहियं-रण्णो आगतो पज्जोतो पडिगओ य। गवेसाविता सुवण्णगुलिया य त्ति, णायं तदट्ठा आगतो आसि त्ति। रण्णा भणियंपडिमं गवेसहि त्ति। गविट्ठा। कुसुमोमालिया चिट्ठइ न व त्ति,

---

१. सन्नद्ध स्थापितकवचेन।

देवतावतारियपडिमाए य गोसीचंदणसीताणुभावेण य कुसुमा णो मिलायंति। ण्हायपयतोतराया मज्झण्ह देसकाले देवाययणं अतिगओ, पेच्छती य पुव्वकुसुमे परिमिलाणे।

रण्णा चिंतियं - किमेस उप्पातो, उत अण्णा चेव पडिम त्ति? ताहे अवणेउं कुसुमे णिरिक्खिता, णायं हडा पडिमा।

रुट्ठो उदायणो दूतं विसज्जेति, जइ ते हडा दासचेडी तो हड णाम, विसज्जेह मे पडिमं।

गतपच्चागतेण दूतेण कहियं उदायणस्स - ण विसज्जेति पज्जोओ पडिमं।

ततो उदायणो दसहिं मउडबद्धरातीसह सव्वसाहण - बलेण पयातो। कालो य गिम्हो वट्टति। मरुजणवयमुत्तरंतो य जलाभावे सव्वखंधवारो ततियादिणे तिसाभिभूतो विसण्णो। उदायणस्स रण्णो कहियं।

रण्णा वि अप्पबहुं चिंतिउं णत्थि अण्णो उवातो सरणं वा, णत्थि परं पभावतिदेवो सरणं ति, पभावतिदेवो सरणंसि कओ। पभावतिदेवस्स कयसिंगारस्सासणकंपो जाओ, तेण ओही पउत्ता, दट्ठा उदायणस्स रण्णो आवत्ती।

ततो सो आगतो तुरंतो [illegible] पुव्वं अप्पातितो जणवओ पविरलतुमारसीयलेण वायुणा। ततो पच्छा वालपरिक्खितं व जलं जलधरेहिं मुक्क सरस्स तं च जलं देवता-कय-पुक्खरणीतिए संठियं, देवकयपुक्खरणि त्ति अबुहजणेणं "ति पुक्खरं" ति तित्थं पवत्तियं।

ततो उदायणो राया गतो उज्जेणि। रोहिता उज्जेणी।

बहुजणक्खए वट्टमाणे उदायणेण पज्जोतो भणिओ - तुज्झं मज्झ य विरोहो। अम्हे चेव दुअग्गा जुज्झामो, किं सेसजणवएणं मारावएिणं ति।

अब्भुवगयं पज्जोएण। दुअग्गाण वि दूतए संचारेण संलावो - कहं जुज्झामो? किं रहेहिं गएहिं अस्सेहिं? ति।

उदायणेण लवियं- जारिसो तुज्झऽणलगिरि हत्थी एरिसो मज्झ णत्थि, तहा तुज्झ जेण अभिप्पेयं तेण जुज्झामो।

पज्जोएण भणियं - गएहिं असमाणं तुज्झं ति, कल्लं रहेहिं जुज्झामो त्ति। दूवग्गणे वि अवट्ठियं।

विदियदिणे उदायणो रहेण उवट्ठितो, पज्जोओऽणलगिरिणा हत्थि - रण्णेण। सेसखंधावारो सेण्णच्चपरिवारो पेच्छगो य उदासीणो चिट्ठति।

उदायणेण भणियं - एस भट्टपडिवण्णो हतो मया, संपलग्गं जुद्धं, आगतो हत्थी।

उदायणेण चक्कभमे च्छूढो, चउसु वि पायतलेसु विद्धो सरेहि, पडिओ हत्थी।

एवं उदायणेण रणे जित्ता गहिओ पज्जोओ। भग्गं परबलं। गहिया उज्जेणी। णट्ठा सुवण्णगुलिया। पडिमा पुण देवताहिट्ठिता संचालेउं ण सक्किता। पज्जोतो य ललाटे सुणहगाइणा डंकितो।

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

इमं च से णामयं ललाटे चेव अंकितं—

कंठा। उदायणो ससाहणेण पडिणियत्तो, पज्जोओ वि बद्धो खंधावारे णिज्जति। उदायणो आगओ, जाव दसपुरोद्दे से[1] तत्थ वरिसाकालो जातो। दस वि मउडबद्धरायाणो णिवेसेण ठितो। उदायणस्स उवजेमणाए भुंजति पज्जोतो।

अण्णया पज्जोसवणकाले पत्ते उदायणो उववासी, तेण सूतो विसज्जितो। पज्जोओ अज्ज गच्छसु, किं ते उवसाहिज्जउ त्ति।

गतो सूतो, पुच्छिओ पज्जोओ। आसंकियं पज्जोतस्स।

"ण कयाति अहं पुच्छिओ, अज्ज पुच्छा कता। णूणं अहं विससम्मिसेण भत्तेण अज्ज मारिज्जिउकामो। अहवा - किं मे संदेहेण, एयं चेव पुच्छामि।"

पज्जोएण पुच्छिओ सूतो - अज्ज मे किं पुच्छिज्जति। किं वा हं अज्ज मारिज्जिउकामो?

सूतेण लवियं-ण तुमं मारिज्जसि। राया समणोवासओऽज्ज पज्जोसवणाए उववासी। तो ते जं इट्ठं अज्ज उवसाहयामि त्ति पुच्छिओ।

तओ पज्जोतेण लवियं- "अहो सपावकम्मेण वसणपत्तेण पज्जोसवणा वि ण णाता, गच्छ कहेहि राइणो उदायणस्स जहा अहं पि समणोवासगो अज्ज उववासिओ भत्तेण ण मे कज्जं।"

सूतेण गंतुं उदायणस्स कहियं - सो वि समणोवासगो अज्ज ण भुंजति त्ति।

ताहे उदायणो भणति - समणोवासगेण मे बद्धेण अज्ज सामातिय ण सुज्झति, ण य पम्मं पज्जोसवियं भवति, तं गच्छामि समणोवासगं बंधणातो मोएमि खामेमि य सम्म, तेण सो मोइओ खामिओ य ललाटमंकच्छाय णट्ठया य सोवण्णो से पट्टो बद्धो। ततो पभिति पट्टबद्धरायाणो जाता।

एवं ताव जति गिहिणो वि कयवेरा अधिकरणाइं ओसवंति, समणेहिं पुण सव्वपावविरतेहिं सुट्ठुतरं ओसवेयव्वं ति। सेसं सवित्थरं जीवंतसामिउप्पत्तीए वत्तव्वं।।३१८६।। —नि० भा० चू०।

---

१. उद्देशः स्थानं आदेशो वा ।

कथा-सारांश[1]*

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

जम्बूद्वीप में चम्पा नगरी निवासी स्वर्णकार कुमारनन्दी अत्यन्त स्त्री-लोलुप था। रूपवती कन्या दिखाई पड़ने पर धन देकर उससे विवाह कर लेता था। इस तरह उसने पाँच सौ स्त्रियों से विवाह किया था। मनुष्यभोग भोगते हुए वह जीवन यापन कर रहा था। इधर पञ्चशैल नाम के द्वीप पर विद्युन्माली नामक यक्ष रहता था। हासा और प्रभासा उसकी दो प्रमुख पत्नियाँ थीं। भोग की कामना से वे विचरण कर रही थीं तब तक कुमारनन्दी दिखाई पड़ा। कुमारनन्दी को अपना अप्रतिम रूप दिखाकर वे छिप गईं। मुग्ध कुमारनन्दी द्वारा याचना करने पर वे प्रकट हो बोलीं पञ्चशैल द्वीप आओ और वे अदृश्य हो गईं।

नाना प्रकार से प्रलाप करते हुए वह राजा के पास गया। राज-उद्घोषक से उसने घोषणा करवायी कि उसे (अनङ्गसेन को) पञ्चशैल द्वीप ले जाने वाले को वह करोड़ मुद्रा देगा। एक वृद्ध नाविक तैयार हो गया। अनङ्गसेन उसके साथ नाव पर सवार होकर प्रस्थान किया। दूर जाने पर नाविक ने पूछा— क्या जल के ऊपर कुछ दिखाई दे रहा है। उसने कहा— नहीं। थोड़ा और आगे जाने पर मनुष्य के सिर के प्रमाण का बहुत काला वन दिखाई पड़ा। नाविक ने बताया कि धारा में स्थित यह पञ्चशैलद्वीप पर्वत का वटवृक्ष है। यह नाव जब वटवृक्ष के नीचे पहुँचे तब तुम इसकी साल पकड़कर वृक्ष पर चढ़कर बैठे रहना। सान्ध्यवेला में बहुत से विशाल पक्षी पञ्चशैल द्वीप से आयेगें। वे रात्रि वटवृक्ष पर बिताकर प्रातःकाल द्वीप लौट जायेंगे। उनके पैर पकड़कर तुम वहाँ पहुँच जाओगे।

वृद्ध यह बता ही रहा था कि नौका वटवृक्ष के पास पहुँच गयी, कुमारनन्दी वृक्ष पर चढ़ गया। उपरोक्त रीति से जब वह पञ्चशैल द्वीप पहुँचा, दोनो यक्ष देवियों ने कहा— इस अपवित्र शरीर से तुम हमारा भोग नहीं कर सकोगे। बालमरण तप कर निदानपूर्वक यहाँ उत्पन्न होकर ही हमारे साथ भोग कर सकोगे। देवियों ने उसे सुस्वादु पत्र-पुष्प, फल और जल दिया। उसके सो जाने पर उन देवियों ने सोते हुए ही हथेलियों पर रखकर उसे चम्पा नगरी में उसके भवन में रख दिया। निद्रा खुलने पर आत्मीयजनों को देखकर वह ठगा सा दोनों यक्ष देवियों का नाम लेकर प्रलाप करने लगा। लोगों के पूछने पर कहता— पञ्चशैल के विषय में जो वृत्त सुना था उसको देखा और अनुभूत किया।

श्रावक नागिल उसका समवयस्क था। नागिल ने कहा कि जिनप्रज्ञप्त धर्म का पालन करो जिससे सौधर्म आदि कल्पों में दीर्घकाल तक स्थित रहकर वैमानिक देवियों के साथ उत्तम भोग कर सकोगे। इन अल्प स्थिति वाली वाणव्यन्तरियों के साथ भोग

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

करने से क्या प्रयोजन? फिर भी उसने निदान सहित इङ्गिनीमरण स्वीकार किया। कालान्तर में वह पञ्चशैल द्वीप पर विद्युन्माली नामक यक्ष हुआ और हासा-प्रभासा के साथ भोग करते हुए विचरण करने लगा।

नागिल श्रावक भी श्रमण व्रत अङ्गीकार कर, आलोचना और प्रतिक्रमण कर समय व्यतीत करते हुए अच्युतकल्प में सामानिक देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

किसी समय नन्दीश्वर द्वीप में अष्टाह्निका की महिमा के निमित्त सभी देव एकत्रित हुए। समारोह में देवताओं ने विद्युन्माली देव को पटह (नगाड़ा) बजाने का दायित्व सौंपा गया। अनिच्छुक उसे बलात् लाया गया। पटह बजाते हुए उसे नागिलदेव ने देखा। पूर्वजन्म के अनुराग के कारण प्रतिबोध देने हेतु नागिलदेव उसके समीप आकर पूछा— मुझे जानते हो। विद्युन्माली ने कहा— आप शक्रादि इन्द्रों को कौन नहीं जानता है? तब देव ने कहा— इस देवत्व से भिन्न पिछले जन्म के विषय में कहता हूँ। विद्युन्माली के अनभिज्ञता प्रकट करने पर देव ने कहा कि मैं पूर्वभव में चम्पा नगरी का वासी नागिल था। तुमने पूर्वभव में मेरा कहना नहीं माना इसलिए अल्पऋद्धिवाले देवलोक में उत्पन्न हुए हो। विद्युन्माली ने पूछा— मुझे क्या करना चाहिए? अच्युत देव ने कहा— बोधि के निमित्त जिनप्रतिमा का अवतारण करो। विद्युन्माली चुल्लहिमवंत पर देवता की कृपा से जाकर गोशीर्षचन्दन की लकड़ी की प्रतिमा लाया। उसे रत्ननिर्मित समस्त आभूषणों से विभूषित किया और गोशीर्षचन्दन की लकड़ी की पेटी के मध्य रख दिया और विचार किया— इसे कहाँ रखूँ?

इधर एक वणिक् की नौका समुद्र-प्रवाह में फँस गयी और छः मास तक फँसी रही। भयभीत और परेशान वणिक् अपने इष्ट देवता के नमस्कार की मुद्रा में खड़ा रहा। विद्युन्माली ने कहा— आज प्रातः काल यह वीतिभय नगर के तट पर प्रवाहित होगी। गोशीर्षचन्दन की यह लकड़ी वहाँ के राजा उदायन को भेंटकर इससे नये देवाधिदेव की प्रतिमा निर्मित कराने के लिए कहना। देवकृपा से नौका वीतिभय पत्तन पहुँची। वणिक् ने राजा के पास जाकर देव के कथनानुसार निवेदन किया और वृत्तान्त कहा। राजा ने भी नगरवासियों को एकत्र किया और वणिक् से ज्ञात वृत्तान्त बताया। वणकुट्टग से प्रतिमा बनाने के लिए कहा गया। ब्राह्मणों ने देवाधिदेव ब्रह्म की प्रतिमा बनाने के लिए कहा। परन्तु कुठार से लकड़ी नहीं कटी। ब्राह्मणों ने कहा— देवाधिदेव विष्णु की प्रतिमा बनाओ, फिर भी कुठार नहीं चली और इसप्रकार स्कन्ध, रुद्रादि देवगणों का नाम लेने पर भी जब शस्त्र कार्य नहीं किया, सभी खिन्न हुए।

रानी प्रभावती ने राजा को आहार के लिए बुलाया। राजा के नहीं आने पर प्रभावती देवी ने दासी भेजा। उसने राजा के विलम्ब का कारण बताया। दासी से वृत्तान्त ज्ञात होने पर रानी ने विचार किया— मिथ्यादर्शन से मोहित ये लोग देवाधिदेव से भी

अनभिज्ञ हैं। प्रभावती स्नान कर कौतुक मङ्गलकर, शुक्ल परिधान धारणकर हाथ में बलि, पुष्प-धूपादि लेकर वहाँ गयी। प्रभावती ने बलि आदि सब कृत्य कर कहा— देवाधिदेव महावीर वर्द्धमान स्वामी हैं, उनकी प्रतिमा कराओ। इसके बाद कुठार से एक प्रहार में ही उस लकड़ी के दो टुकड़े हो गये। उसमें रखी हुई सर्वालङ्कारभूषिता भगवान् की प्रतिमा दिखाई पड़ी। घर के समीप निर्मित मन्दिर में राजा ने उस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी।

कृष्णगुलिका नामक दासी मन्दिर में सेविका नियुक्त की गई। अष्टमी और चतुर्दशी को प्रभावती देवी भक्तिराग से स्वयं ही मूर्ति की पूजा करती थीं। एक दिन पूजा करते समय रानी को राजा के सिर की छाया नहीं दीख पड़ी। उपद्रव की आशङ्का से भयभीत रानी ने राजा को सूचित किया। और उपाय सोचा कि जिनशासन की पूजा से मरण का भय नहीं रहता है।

एक दिन प्रभावती ने स्नान-कौतुकादि क्रिया के बाद मन्दिर जाने हेतु शुद्ध वस्त्र लाने का दासी को आदेश दिया। उत्पात-दोष के कारण वस्त्र कुसुंभरंग से लाल हो गया। प्रभावती ने उन वस्त्रों को प्रणाम किया परन्तु उसमें रङ्ग लगा हुआ देखकर वह रुष्ट हो गई और दासी पर प्रहार किया, दासी की मत्यु हो गयी। निरपराधिनी दासी के मर जाने पर प्रभावती पश्चात्ताप करने लगी कि दीर्घकाल से पालन किये गये मेरे स्थूलप्राणातिपातव्रत खण्डित हो गये। यही मुझ पर उत्पात है।

प्रभावती ने प्रव्रज्या-ग्रहण की आज्ञा हेतु राजा से विनती की। राजा की अनुमति से गृह त्यागकर उसने निष्क्रमण किया। छः मास तक संयम का पालन कर, आलोचना और प्रतिक्रमण कर मृत्यु के पश्चात् वैमानिक देव के रूप में उत्पन्न हुई।

राजा को देखकर, पूर्वभव के अनुराग से वह अन्य वेश धारण कर जैनधर्म की प्रशंसा करती है, तापस भक्त होने के कारण राजा उसकी बात स्वीकार नहीं करता था। (प्रभावती) देव ने तपस्वी वेश धारण किया। पुष्पफलादि के साथ राजा के समीप जाकर उसे एक बहुत ही सुन्दर फल भेंट किया। वह फल अलौकिक, कल्पनातीत और अमृतरस के तुल्य था। राजा के पूछने पर तपस्वी ने, निकट ही तपस्वी के आश्रम में ऐसे फल उत्पन्न होने की सूचना दी। राजा ने तपस्वी-आश्रम और वृक्ष दिखाने का तपस्वी से अनुरोध किया।

मुकुट आदि समस्त अलङ्कारों से विभूषित हो वहाँ जाने पर राजा को वनखण्ड दिखाई पड़ा। उसमें प्रविष्ट होने पर आश्रम दिखाई पड़ा। आश्रम के द्वार पर राजा को ऐसा आभास हुआ— मानो कोई कह रहा है— "यह राजा अकेले ही आया है। इसका वध कर इसके समस्त अलङ्कार ग्रहण कर लो। भयभीत राजा पीछे हटने लगा। तपस्वी भी चिल्लाया— दौड़ो-दौड़ो, यह भाग रहा है, इसे पकड़ो। तब सभी तपस्वी

हाथ में कमण्डल लेकर 'मारो-मारो, पकड़ो-पकड़ो' कहते हुए दौड़े। राजा भागने लगा।

भयभीत हो कर भागते हुए राजा को एक विशाल वनखण्ड दिखाई पड़ा। उसमें मनुष्यों का स्वर सुनाई पड़ा। उस वनखण्ड में प्रवेश करने पर राजा ने चन्द्र के समान सौम्य कामदेव के समान सौन्दर्ययुक्त, बृहस्पति के समान सर्वशास्त्र विशारद, बहुत से श्रमणों, श्रावकों, श्राविकाओं के समक्ष, धर्म का प्रवचन करते हुए एक श्रमण को देखा। राजा 'शरण-शरण' चिल्लाते हुए वहाँ गया। श्रमण ने कहा— भयभीत मत हो। 'छोड़ दिये गये' यह कहते हुए तपस्वी भी चला गया, राजा भी आश्वस्त हो गया। श्रमण से धर्म प्रवचन सुनकर राजा ने जिन धर्म स्वीकार कर लिया।

परन्तु यथार्थ में राजा अपने सिंहासन पर ही बैठा था, वह कहीं गया ही नहीं था। उसने सोचा— यह क्या है? आकाशस्थित (प्रभावती) देव ने बताया, यह सब (चमत्कार) मैंने तुझे प्रतिबोध देने के लिए किया था। 'तुम्हारा धर्म निर्विघ्न हो' यह कहकर देव अन्तर्ध्यान हो गये। समस्त नगरवासियों के मध्य घोषणा हुई, वीतिभय नगर में देव द्वारा अवतीर्ण प्रतिमा है।

मार्गदर्शक - आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

गान्धार जनपदवासी एक श्रावक ने सङ्कल्प किया कि सभी तीर्थङ्करों के पञ्चकल्याणकों-जन्म, निष्क्रमण, कैवल्यप्राप्ति, निर्वाणभूमियों आदि का दर्शन करने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करूँगा। यात्रा के दौरान उसने वैताढ्य गिरि की गुफा में वर्तमान ऋषभादि तीर्थङ्करों की रत्ननिर्मित स्वर्ण-प्रतिमाओं के विषय में एक साधु के मुख से सुना। अतः दर्शन की इच्छा से वहाँ गया। स्तव एवं स्तुतियों से स्तवन करते हुए, अहोरात्र निवास करते हुए उसके मन में रत्नों के प्रति थोड़ा भी लोभ नहीं हुआ। उसके निर्लोभ से तुष्ट हो प्रत्यक्ष होकर देव ने उससे वर माँगने के लिए कहा। तब श्रावक ने कहा— भोग से निवृत्त मुझे वरदान से क्या प्रयोजन?

'मोहरहित देवत्व का दर्शन है', यह कहकर देवता ने यथाचिन्तित मनोरथों को पूर्ण करने वाली आठ सौ गुलिकायें प्रदान कीं। फिर श्रावक वीतिभय नगर में विद्यमान देव द्वारा अवतारित समस्त अलङ्कारों से विभूषित प्रतिमा के विषय में सुनकर, उसके दर्शनार्थ वहाँ गया। प्रतिमाराधन के लिए कुछ दिन तक मन्दिर में रुका और बीमार पड़ गया। प्रव्रज्याभिलाषी मेरे लिए ये गुलिकायें निष्प्रयोजन हैं— यह सोचकर उसने गुलिकायें मन्दिर की दासी कृष्णगुलिका को दे दीं और वहाँ से प्रस्थान किया।

कृष्णगुलिका ने गुलिकाओं की शक्ति-परीक्षा के लिए यह सङ्कल्प कर एक गुलिका खा लिया कि मैं उदात्त कनकवर्णा, सुन्दर रूप वाली और ऐश्वर्यवाली हो जाऊँ। उससे वह देवता के समान कामरूपवाली, परावर्तित वेशवाली, उदात्त कनकवर्णवाली, सुन्दर रूप वाली और सुभगा हो गयी। लोगों में चर्चा होने लगी कि देवताओं की

कृपा से कृष्णगुलिका कनकवर्णा हो गयी। इसका नाम स्वर्णगुलिका होना चाहिए और वह इसी नाम से प्रसिद्ध हो गयी। गुलिका की अलौकिक शक्ति के प्रति विश्वास उत्पन्न हो जाने पर उसने एक गुलिका मुख में रखकर कामना की कि प्रद्योत राजा मेरे पति हों।

वीतिभय से उज्जयिनी अस्सी योजन (३२० कोस) दूर होने पर भी अकस्मात् राजसभा में राजा प्रद्योत के सम्मुख एक पुरुष यह कथा कहने लगा— वीतिभय नगर में देवता द्वारा अवतारित प्रतिमा की सेविका कृष्णगुलिका देवकृपा से स्वर्णगुलिका हो गई है। अत्यधिक सौभाग्य तथा लावण्य से युक्त वह बहुत से लोगों द्वारा पार्थित की जाने लगी है।

वार्ता सुनकर प्रद्योत ने स्वर्णगुलिका को पाने हेतु उदायन के पास दूत भेजा कि इसे स्वर्णगुलिका के साथ वापस करो। दूत के पहुँचने पर उदायन ने यथोचित सत्कार नहीं किया। अपने प्रस्ताव का अनुकूल उत्तर न मिलने पर प्रद्योत ने युद्धदूत भेजा कि यदि स्वर्णगुलिका नहीं भेजोगे तो युद्धार्थ आ रहा हूँ। वह दूत स्वर्णगुलिका से भी मिला। उसने कहा यदि प्रतिमा वहाँ जायेगी तभी मैं जाऊँगी, अन्यथा नहीं जाऊँगी। दूत के लौट आने पर प्रद्योत अपने हाथी-रत्न अनलगिरि पर सवार होकर युद्ध के लिए सुसज्जित हो, कवच धारण कर गुप्त रूप से प्रदोषवेला में नगर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ वसन्त काल में कृत्रिम प्रतिमा निर्मित करवाकर, उसे सजाकर उच्चस्वर में गीत गाते हुए देवतावतारित प्रतिमा लाने के लिए राजभवन में निर्मित मन्दिर में प्रविष्ट हुआ। छल से कृत्रिम प्रतिमा को मन्दिर में स्थापित किया और देवतावतारित प्रतिमा का हरणकर प्रद्योत चला गया।

जिस रात अनलगिरि वीतिभय नगर में प्रविष्ट हुआ, गन्धहस्ति के गन्ध से उसके प्रवेश के विषय में लोगों को ज्ञात हो गया। महामन्त्री ने विचार किया— निश्चय ही अनलगिरि हाथी-स्तम्भ नष्ट कर आया हुआ है अथवा दूसरा कोई वनहस्ती आया हुआ है। प्रातःकाल अनलगिरि के आने के लक्षण दिखाई पड़े। राजा को बताया गया कि प्रद्योत आकर वापस चला गया। स्वर्णगुलिका की खोज करवाने पर ज्ञात हुआ कि उसके निमित्त ही प्रद्योत आया था। मन्दिर में विद्यमान प्रतिमा की सत्यता की परख के लिए कि यह देवतावतारित प्रतिमा है या उसकी प्रतिमूर्ति, उस पर पुष्प रखे गये। मूल प्रतिमा के गोशीर्षचन्दन की शीतलता के प्रभाव से पुष्प मलिन नहीं होते थे। राजा स्नान करने के पश्चात् मध्याह्न में देवायतन गये और पूर्व कुसुमों को म्लान हुआ देखकर राजा ने जान लिया— मूल प्रतिमा का हरण हो गया है। क्रोधित उदायन ने चण्डप्रद्योत के पास दूत भेजा कि दासी को भले ही हर ले गये किन्तु प्रतिमा वापस भेज दो। चण्डप्रद्योत की ओर से सकारात्मक उत्तर न मिलने पर उदायन ने समस्त साधनों एवं सेनाओं के साथ प्रस्थान किया। ग्रीष्म का समय होने से मरु जनपद में

यात्रा करते हुए जलाभाव से समस्त सेना प्यास से व्याकुल हो गयी। समस्या के निवारण के लिए उदायन राजा ने प्रभावती देव की आराधना की। देव के शासन में कम्प उत्पन्न हुआ। देव द्वारा अवधिज्ञान का प्रयोग करने पर उदायन राजा की आकृत्ति दिखाई पड़ी। देव ने तुरन्त आकर बादलों से जलवर्षा करवायी जिससे देवता द्वारा निर्मित पुष्कर में जल एकत्र हो गया। इस देवकृत पुष्कर को ही अज्ञानी लोग पुष्करतीर्थ कहने लगे।

उज्जयिनी पहुँचकर उदायन राजा ने प्रद्योत को घेर लिया और अधिसंख्य लोगों की उपस्थिति में उससे कहा— तुमसे हमारा विरोध है। हम दोनों ही युद्ध करेंगे, शेष जनों को मरवाने से क्या? प्रद्योत ने इसे स्वीकार कर लिया। बाद में दूत के माध्यम से सन्देश भिजवाया कि किस प्रकार युद्ध करेंगे— रथों से, हाथियों से या अश्वों से। उदायन ने कहा तुम्हारे हाथी अनलगिरि जैसा उत्तम हाथी मेरे पास नहीं है, तब भी तुझे जो अभीष्ट है उससे युद्ध करो। प्रद्योत ने कहा— रथ से युद्ध करेंगे। निश्चित दिन उदायन रथ पर उपस्थित हुआ जबकि प्रद्योत अनलगिरि हाथी-रत्न के साथ। शेष सेनापति एवं सैन्यसमूह दर्शक मात्र था, तटस्थ था।

युद्ध आरम्भ होने पर उदायन ने हाथी के चारों पैरों को बींध दिया। हाथी गिर पड़ा, उज्जयिनी पर उदायन का अधिकार हो गया। स्वर्णगुलिका भाग गई। देवताधिष्ठित प्रतिमा को पुनः वहाँ से लाना सम्भव नहीं हुआ। प्रद्योत के ललाट पर "दासीपति" यह नाम अङ्कित करवाया गया।

उदायन सेना सहित लौट आया, प्रद्योत भी बन्दी बनाकर लाया गया। उदायन के वापस आते-आते वर्षाकाल आ गया। पर्युषण पर्व आरम्भ होने पर उदायन ने दूत द्वारा प्रद्योत से पूछवाया कि वे क्या आहार ग्रहण करेंगे। दूत द्वारा अप्रत्याशित रूप से पूछने पर प्रद्योत आशङ्कित हो गया कि प्राण का खतरा है। दूत ने शङ्का-निवारण किया कि श्रमणोपासक राजा आज पर्युषणा का उपवास रखते हैं इसलिए तुम्हें इच्छित आहार प्रदान करेंगे। प्रद्योत को दुःख हुआ कि पापकर्म युक्त होने के कारण पर्युषण का आगमन भी नहीं जान पाया। उसने उदायन से कहलवाया कि वह भी श्रमणोपासक है और आज आहार नहीं ग्रहण करेगा। तब उदायन ने कहा— श्रमणोपासक को बन्दी बनाने से मेरा सामायिक शुद्ध नहीं होगा और न ही सम्यक् पर्युशमन होगा। इसलिए श्रमणोपासक को बन्धन से मुक्त करता हूँ और सम्यक् क्षमापणा करूँगा। उसने प्रद्योत को मुक्त कर दिया और ललाट पर जो अङ्कित था उस पर स्वर्णपट्ट बाँध दिया। उसके बाद से वह 'पट्टबद्ध' राजा के रूप में प्रख्यात हो गया।

इसप्रकार यदि गृहस्थ भी वैरवश किये गये पापों का उपशमन करते हैं तो पुनः सर्वपाप से विरत श्रमणों को तो अच्छी प्रकार से उपशमन करना चाहिए।

३. भृत्य द्रमक —वृत्तान्त

खद्धाऽऽदाणियगेहे पायस दट्ठुण चेडरूवाइं।
पियरो भासण खीरे जाइय लद्धे य तेणा उ।।९७।।
पायसहरणं छेत्ता पच्चागय दमग असियए सीसं ।
भाउय सेणावति खिंसणा य सरणागतो जत्थ।।९८।।

—द०नि०[११]।

एगो दमओ पच्चंतगामवासी तेण सरतकाले चेडरूवेहिं जाइज्जंतेण दुद्धं मग्गिउण पायसो रद्धो। तत्थ चोरसेणा पडिया। तेहिं विलोलियं। सो य पायसो सत्थालीतो हरितो तेणेहिं। सो य अडवीतो तणं लुणिऊण अज्ज ताहं समं पायसं भोक्खामीति जाव इंतस्स चेडरूवेहिं रूयमाणेहिं सिट्ठं, कोधेण गंतुं तेसिं चोराण वक्खेवेणं सेणावइस्स असियएण सीसं छिंदिऊण णट्ठो। ते य चोरा हयसेणावतिया णट्ठा। तेहिं गंतूण पलिंतस्स डहरओ भाया सेणावती अभिसितो। ताहे ताओ माता भइभइणीओ तं भणंति, तुम्ह अम्हं वइरियं अमारेऊण इच्छसि सेणावइत्तणं काउं? तेण गंतूण सो आणितो दमगो जीवगज्झो वराओ। तेसिं पुरओ णिगलियं बंधिऊण भणितो धणुं गहाय भणइ, कत्थ? आहणामि सरेण भाइमारगा?, तेण भणियं-जत्थ सरणागया विज्झंति। तेण चिंतिऊण भणियं-कइयावि नो सरणागता आहम्मंति, ताहे सो पूएऊण विसज्जितो। जति ताव तेण धम्मं अयाणमाणेण मुक्को, किमंग पुण साधुणा परलोगभीतेण अब्भुवगतस्स सम्मं सहितव्वं खमियव्वं।।

—द०चू०।

खद्धिं आदाणिं जेसु गिहेसु खद्धादाणीयगिहा - ईश्वरगृहा इत्यर्थः। तेसु खद्धादाणीयगिहेसु, खणकाले पायसो णवगपयसाहितो। तं दट्ठुं दमगचेडा दमगो-दरिद्दो तस्स पुत्तभंडा इत्यर्थः पितरं ओभासंति- "अम्ह वि पायस देहि" त्ति भणितो तेण गामे दुद्धतंदुले ओहारिऊणसमप्पियं भारियाए- "पायसमुवसाहेहि" त्ति। सो य पच्चंतगामो, तत्थ चोरसेणा पडिता, ते य गामं विलुलिउमाढत्ता।

तस्स दमगस्स सो य पायसो सह थालीए हडो। त बेलं सो दमगोछेत्तं गतो। सो य छेतातो तणं लुणिऊणं आगतो, तं चिंतेति— "अज्ज चेडरूवेहिं समं भोक्खेमि" त्ति धरंगणपत्तस्स चेडरूवेहिं कहितं ततो "बप्प", त्ति भणंतेहि सो य पायसो हडो। सो तणपूलियं छड्डेऊण गतो कोहाभिभूतो, पेच्छति सेणाहिवस्स पुरतो पायसथालियं ठवियं। ते चोरा पुणो गामं पविट्ठा, एगागी सेणाहिवो चिट्ठइ। तेण य दमगेण असिएण

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सीसं छिण्णं सेणावतिस्स णट्ठो दमगो। ते य चोरा हण्णायगा णट्ठा। तेहिं य गतेहिं मयकिच्चं काउं तस्स डहरतरतो भाया सो सेणाहिवो अभिसित्तो। तस्स मायभगिणीभाउज्जाइयातो अ खिंसंति— "तुमं भाओवरतिए जीवंते अच्छति सेणाहिवत्तं काउं, धिरत्थू ते जीवियस्स। सो अमिरसेण गतो गहितो - दमगो जीवगेज्झो, आणितो निगडियवेढिगो सयणमज्झगतो आसणट्ठितो वणगं गहाय भणति-अरे अरे भातिवेरिया, कत्थ ते आहणामि त्ति।

दमगेण भणियं "जत्थ सरणागता पहरिज्जंति तत्थ पहराहिं" त्ति।

एवं भणिंते सयं चिंतेति— "सरणागया णो पहरिज्जंति।" ताहे सो माउमगिणीसयणाणं च मुहं णिरिक्खति।

तेहिं ति भणितो— "णो सरणागयस्स पहरिज्जति", ताहे सो तेण पुएऊण मुक्को।

जति ता तेण सो धम्मं अजाणमाणेण मुक्को, किमं णु पुण साहुणा परलोगभीतेण। अब्भुवगयवच्छल्लेण अब्भुवगयस्स सम्मं ण सहियव्वं? खमियव्वं ति।

इयाणिं "कसाय" त्ति दारं।

तेसिं चउक्कणिक्खेवो जहावट्ठाणे कोहो चउव्विधो उदगराइसमाओ वालुआराइसमाणो पुढवीराइसमाणो पव्वयगराइसमाणे दारं।

– नि० भा० चू०।

कथा-सारांश[१२]

द्रमक नामक नौकर का पुत्र, स्वामी के घर में बना क्षीरान्न देखकर, उसे माँगने लगा। नौकर गाँव में से दूध और चावल माँगकर लाया और पत्नी को क्षीरान्न बनाने के लिए कहा। निकट के गाँव में ठहरा हुआ चोरों का दल गाँव लूटने के लिए आया और उस गरीब के घर से क्षीरान्न से भरी थाली उठा ले गया। उस समय वह नौकर खेत पर गया हुआ था। खेत से तृण काटकर लौटते समय वह यह सोचते हुए घर आया कि आज बच्चे के साथ क्षीरान्न खाऊँगा। बच्चे ने क्षीरान्न की चोरी के बारे में बताया। द्रमक तृण-पूल रखकर क्रोध से भरकर चला। चोरों के सेनापति के सामने क्षीरान्न की थाली देखा, सेनापति अकेला था। चोर दुबारा गाँव में चले गये थे। द्रमक ने तलवार से उसका सिर काट लिया। सेनापति का वध हो जाने से चोर भी भाग गये। सेनापति का छोटा भाई नया सेनापति बना। सेनापति की माँ, बहन और भाभी उसकी निन्दा करती थीं— भाई के वैरी के जीवित रहने पर तुम्हारे सेनापतित्व को धिक्कार है। सेनापति क्रोध में भरकर गया और द्रमक को जीवित पकड़कर लाया। उसने द्रमक से पूछा— हे! हे! भ्रातृवैरी! किस अस्त्र से तुम्हें मारूँ। द्रमक ने उत्तर

दिया— जिससे शरणागत पर प्रहार करते हैं उससे प्रहार करो। द्रमक के इस उत्तर पर वह सोचने लगा— शरणागत पर प्रहार नहीं किया जाता है और उसने द्रमक को मुक्त कर दिया।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

यदि धर्म के उस अज्ञानी ने भी मुक्त कर दिया तो पुनः परलोक से भयभीत वात्सल्य के जानकार क्यों नहीं सम्यक्त्व का पालन करेंगे।

४. क्रोध कषाय विषयक मरुक दृष्टान्त

अवहंत गोण मरुए चउण्ह वप्पाण उक्करो उवरिं।
छोडुं मए सुवट्ठाऽतिकोवे णो देमो पच्छित्तं।।१०३।।

– द०नि०[13]।

एत्थ एसेव दमगो।

अधवा - एगो मरुगो, तस्स इक्को बइल्लो। सो य तं गहाय केयारे हलेण वाहेमि त्ति गतो। सो य परिस्संतो पडितो, ण तरति उट्ठेउं।

ताहे तेण धिज्जातिएण हणंतेण तस्स उवरिं तुत्तगो भग्गो, तहावि ण उट्ठीत। अण्णकट्ठाभावे लेट्ठुएहिं हणिउमारद्धो, एगकेयारलेट्ठुएहिं, तहावि णोट्ठितो, एवं चउण्ह केयाराण उक्केरण आहतो, णो उट्ठितो।

तो तेण लेट्ठुपुञ्जो कतो, मओ सो गोणो।

ताहे सो बंभणो गोवज्झविसोहणत्थं धिज्जातियाणमुवट्ठितो। तेण जहावत्तं कहियं, भणियं च तेण - अज्ज वि तस्सोवरिं मे कोहो ण फिट्टति।

ताहे सो धिज्जातिएहिं भणिओ - तुमं अतिक्कोही, णत्थि ते सुद्धी, ण ते पच्छित्तं देमो, सव्वलोगेण वज्जितो सोऽसिलोगपडितो जातो।

एवं साहुणा एरिसो कोवो ण कायव्वो। अह करेज्ज तो उदगरातीसमाणेण भवियव्वं। जो पुण पक्खिय- चाउम्मासिय-संवच्छरिएसु ण उवसमति तस्स विवेगो कायव्वो, जहा धिज्जातियस्स।

– नि०भा०चू०।

कथा-सारांश[14]

मरुक नामक व्यक्ति के पास एक बैल था। वह उसे जोतने के लिए खेत पर ले गया। जोतते-जोतते बैल थककर गिर पड़ा और उठ न सका। तब मरुक ने उसे इतना मारा कि मारते-मारते पैरा या चाबुक टूट गया, तब भी बैल नहीं उठा। एक

क्यारी के ढेलों से मारा, फिर भी नहीं उठा। चार क्यारियों के ढेर से मारा, फिर भी नहीं उठा। तब उसने बैल पर ढेलों का ढेर कर दिया और बैल मर गया।

गोवधजनित पाप की विशुद्धि के लिए वह मरुक किसी ब्राह्मण के पास गया। सारी बात बताकर उसने अन्त में कहा कि आज भी बैल के ऊपर मेरा क्रोध शान्त नहीं हुआ। ब्राह्मण ने कहा— तुम अतिक्रोधी हो, तुम्हारी शुद्धि नहीं है, तुम्हें प्रायश्चित्त नहीं दूँगा।

इसप्रकार साधु को भी क्रोध नहीं करना चाहिए। यदि क्रोध उत्पन्न भी हो तो वह जल में पड़ी लकीर के समान हो। जो क्रोध पुनः एक पक्ष में, चातुर्मास में और वर्ष में उपशान्त न हो उसे विवेक द्वारा शान्त करना चाहिए।

५. मान कषाय विषयक अत्यहङ्कारिणी भट्टा दृष्टान्त

वणिधूयाऽच्चंकारिय भट्टा अट्ठसुयमग्गओ जाया।
वरग पडिसेह सचिवे, अणुयत्तीह पयाणं च।।१०४।।
णिवचिंत विगालपडिच्छणा य दारं न देमि निवकहणा ।
खिंसा णिसि निग्गमणं चोरा सेणावई गहणं।।१०५।।
नेच्छइ जलूगवेज्जगगहण तम्मि य अणिच्छमाणम्मि।
गाहावइ जलूगा धणभाउग कहण मोयणया ।।१०६।।
सयगुणसहस्स पागं, वणभेसज्जं वतीसु जायणता ।
तिक्खुत्त दासीभिंदण ण य कोव सयं पदाणं च।।१०७।।

– द०नि०[१५]।

दारं। सा ण उग्घाडेति। ताहे तेण चिरं अच्छिऊण भणिया- मा तुमं चेव सामिणी होज्जाहि। सा दारं उग्घाडेऊण अडविहुत्ता माणेण गता। चोरेहिं घेत्तुं चोरसेणावतिस्स उवणीता। तेण भणिता महिला मम होहित्ति। सा णेच्छति तेण वलामोडिए ण गेण्हंति। तेहिं जलोगवेज्जस हत्थे विक्कीता। तेणवि भणिता मम महिला होहित्ति। सा णेच्छति रोसेण जलोगाओ पडिच्छसुत्ति भणिता। सा तत्थ णवणीतेणं मक्खिया जलोगाओ गिण्हंति। तं असरिसं करेति। ण य इच्छति। अन्नरूवलावण्णा जाता। भाउतेण य मग्गमाणे पच्चभिन्ना या मोएउण नीता वमणे विरेअणेहि य पुण णवीकाऊण अमच्चेण नेताविता तीसे य तेल्लं सतसहस्सपागं पक्कं तं च साधुणा मग्गितं। ताए दासी संदिट्ठा आणेहि, ताए आणंतीए भायणं भिन्नं, एवं तिन्निवारेभिण्णाणि, णय रुट्ठा तिसु सतसहस्सेसु विणट्ठेसु। चउत्थ वारा अप्पणा उट्ठेतुं दिन्नं। जति ताव ताए मेरुसरिसोवमो माणो निहतो किंमंग पुण साधुणा, निहणियव्वो चेव।

– द०चू०।

'खितिपतिट्ठिय' णगरं। 'जियसत्तू' राया। 'धारिणी' देवी। 'सुबुद्धी' सचिवो। तत्थ णगरे 'धणो' णाम सेट्ठी। तस्स 'भद्दा' भारिया। तस्स य धूया भट्टा। सा य माउपिय-भाउयाण य उवातियसलयद्धा। मायपितीहि य सव्वपरियणो भण्णति - "एसा जं करेउ ण केण ति किंचिच्चंकारेयव्वं" ति। ताहे लोगेण से कयं णाम अच्चंकारियभट्टा। सा य अतीवरूववती, बहुसु वणियकुलेसु वरिज्जति।

धणो य सेट्ठी भणति - जो एयं ण चंकारेहिति तस्सेसा दिज्जिहिति त्ति। एवं वरगे पडिसेहेति।

अण्णया सचिवेण वरिता। धणेण भणियं - जइ ण किंचि वि अवराहे चंकारेहिसि तो ते पयच्छामो। तेण य पडिसुयं। तस्स दिण्णा। भारिया जाता। सो य ण चंकारेति।

सो य अमच्चो रातीते जामे गते सुखजग्गाणि समागेउं आगच्छति। सा तं दिणे दिणे खिंसति सवेलाए णागच्छसित्ति। ततो सवेलाए एतुमाढत्तो।

अण्णया रण्णो चिंता जाता - किमेस मंती सवेलाए गच्छति त्ति।

रण्णो अण्णेहिं कहियं - एस भारियाए आणाभंगं न करेति त्ति।

अण्णया रण्णा भणियं - इमं एरिसं तारिसं च कज्जं च सवेलाए तुमे ण गंतव्वं। सो ओसुअभूतो वि रायाणुअत्तीए ठितो।

सा य रुट्ठा वारं बधेउं ठिता। अमच्चो आगतो उस्सूरे, "दारमुग्घाडेहि" त्तिं बहुं भणिता वि जाहे ण उग्घाडेति ताहे तेण चिरं अच्छिऊण भणिता- "तुमं चेव सामिणी होज्जासि त्ति अहो मे आलो अंगीकतो।"

ताहे सा "अहमालो" त्ति भणिया दारमुग्घाडेउं पियघरं गता। सव्वालंकारविभूसिता अंतरा चोरेहिं गहिता। तेण सा भणिता— मम महिला होहि त्ति। सो तं बला ण भुंजति, सा वि तं णेच्छति। ताहे तेण वि सा जल्लगवेज्जस्स हत्थे विक्कीता। तीसे सव्वालकारं घेत्तुं चोरेहिं सेणावतिस्स उवणीता।

तेण वि सा भणिता - मम भज्जा भवाहि त्ति। तं पि अणिच्छंतीए तेण वि रुसिएण भणिता— "वणं" -पाणीयं, तातो जलूगा गेण्हाहि" त्ति। सा अप्पाणं णवणीएण मक्खेउं जलमवगाहति, एवं जलूगातो गेण्हति। सा तं अणणुरूवं कम्म करेति ण य सीलभंगं इच्छति। सा तेण रुहिरसावेण विरूवलावण्णा जाया। इतो य तस्स भाया दूयकिच्चेण तत्थागतो, तेण सा अणुसरिस त्ति काउं पुच्छिता, तीए कहियं, तेण दव्वेण मोयाविया आणिया य। वमणविरेयणेहिं पुण णवसरीरा जाता।

अमच्चेण य पच्चाणेउं घरमाणिया सव्वसामिणी ठविया। ताए सो कोहपुरस्सरस्स माणस्स

दोसं दट्ठुं अभिग्गहो गहितो- "ण मे कोहो माणो वा कायव्वो।।३१९४।।३१९५।।३१९६।।

तस्स घरे सयसहस्सपागं तेल्लमत्थि, तं च साहुणा वणसंरोहणत्थं ओसढं मग्गियं।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ताए य दासचेडी आणत्ता, "आणेहि" त्ति। ताए आणंतीए सहतेल्लेण एगं भायणं भिण्णं। एवं तिण्णि भायणाणि भिण्णाणि। ण य सा रुट्ठा। तिसु य सयसहस्सेसु विणट्ठेसु चउत्थवाराए अप्पणा उट्ठेऊणं दिण्णं।

जइ ताए कोइपुरस्सरो मेरुसरिसो माणे णिज्जितो तो साहुणा सुट्ठुतरं णिहंतव्वो इति।।३१९७।।

– नि० भा० चू०।

कथा-सारांश[15]

क्षितिप्रतिष्ठित नगर में जितशत्रु राजा था, धारिणी देवी उसकी रानी और सुबुद्धि उसका मन्त्री था। वहाँ धन नामक श्रेष्ठी था, भट्टा उसकी पुत्री थी। माता-पिता ने सब परिजनों से कह दिया था, भट्टा जो भी करे, उसे रोका न जाय, इसलिए उसका नाम 'अच्चंकारिय" भट्टा पड़ा। वह अत्यन्त रूपवती थी। बहुत से वणिक्परिवारों ने उसका वरण करना चाहा। धनश्रेष्ठि उनसे कहता था कि जो इसे इच्छानुसार कार्य करने से मना नहीं करेगा उसे ही यह दी जायगी, इसप्रकार वह वरण करने वालों का प्रस्ताव अस्वीकार कर देता।

अन्त में एक मन्त्री ने भट्टा का वरण किया। धन ने उससे कहा— यदि अपराध करने पर भी मना नहीं करोगे, तब दूँगा। मन्त्री द्वारा शर्त मान लेने पर भट्टा उसे प्रदान कर दी गई। कुछ भी करने पर वह उसे रोकता नहीं था।

वह अमात्य राजकार्यवश विलम्ब से घर लौटता था, इससे भट्टा प्रतिदिन रुष्ट होती थी। तब वह समय से घर आने लगा। राजा को दूसरों से ज्ञात हुआ कि यह पत्नी की आज्ञा का उल्लङ्घन नहीं करता है। एक दिन आवश्यक कार्यवश राजा ने रोक लिया। अनिच्छा होते हुए भी उसे रुकना पड़ा। अत्यन्त रुष्ट हो भट्टा ने दरवाजा बन्द कर लिया। घर आकर अमात्य ने दरवाजा खुलवाने का बहुत प्रयास किया फिर भी जब भट्टा ने नहीं खोला तब मन्त्री ने कहा— तुम ही स्वामिनी बनो, मैं जाता हूँ।

रुष्ट हो वह द्वार खोलकर पिता के घर की ओर चल पड़ी। सब अलङ्कारों से विभूषित होने के कारण चोरों ने रास्ते में पकड़कर उसके सब अलङ्कार लूट लिये और उसे सेनापति के पास लाये। सेनापति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा पर वह उसे नहीं चाहती थी। उसने बलपर्वूक भोग नहीं किया, और उसे जलूक वैद्य के हाथ

बेच दिया। वैद्य ने भी उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। भट्टा उसकी भी पत्नी बनने के लिए सहमत नहीं हुई। भट्टा क्रोध में जलूक के प्रतिकूल वचन बोलती और उसकी इच्छा के विपरीत कार्य करती थी। वह शीलभङ्ग नहीं करना चाहता था। भट्टा रक्तस्राव के कारण कुरूप हो गई। इधर उसका भाई कार्यवश वहाँ आया और धन देकर उसे छुड़ा लाया। वमन और विरेचन द्वारा पुनः उसे रूपवती बनाकर मन्त्री के पास भेजा। स्वीकार कर अमात्य उसे घर लाया।

भट्टा ने क्रोध पुरस्सर मान का दोष देखकर अभिग्रह किया मैं मान अथवा क्रोध कभी नहीं करूँगी।

६. माया कषाय विषयक पाण्डुरार्या दृष्टान्त

पासत्थि पंडरज्जा परिण्ण गुरुमूल णाय अभिओगा।
पुच्छति च पडिक्कमणे, पुव्वब्भासा चउत्थम्मि ।।१०८।।
अपडिक्कम सोहम्मे अभिओगा देवि सक्कतोसरणं।
हत्थिणि वायणिसग्गो गोतमपुच्छा य वागरणं।।१०९।।

– दशा०नि०[१७]।

मायाए पंडरज्जा नाम साधुणी सा विज्जासिद्धा आभिओग्गाणि बहूणि जाणति। जणो से पणयकरसिरो अच्छति। सा अण्णदा कदापि आयरियं भण ति भत्तं पच्चक्खावेह, ताहे गुरूहिं सव्व छड्डाविता पच्चक्खातं। ताहे स भत्ते पच्चक्खाते।।

एगाणिया अच्छति, ण कोइ तं आढाति ताहे ताए विज्जाए आवाहितो जणो आगंतुमारद्धो पुप्फगंधाणि घित्तूण। आयरिएहिं दोवि पुच्छिता वग्गा भणंति-ण याणामो। सा पुच्छिता भणति-आमं मए विज्जाए कतं। तेहिं भणितं-वोसिर। ताए वोसट्ठं, द्वितो लोगो आगंतुं। सा पुणो एगागी पुणो आवाहितं सिद्धं च ततियं अणालोइतुं कालगता सोधम्मे कप्पे एरावणस्स अग्गमहिसी जाता ताहे आगंतूण भगवतो पुरतो ठिच्चा हत्थिणी होउं महता सद्देण वाउक्कायं करेति। पुच्छा उट्ठिता वागरितो भगवता पुव्वभवो से। अण्णोवि कोपि साधू साधूणी वा मा एवं काहिंति। सोवि एरिसं पाविहित्ति मत्तिएण वा तं करेति। तम्हा माया ण कायव्वा। लोभे लुद्धणंदो कालइत्तो जेण अप्पणो पादा भग्गा, तम्हा लोभो ण कातव्वो।

– द०चू०।

णाणातितियस्स पासे ठिता पासत्थी, सरीरोवकरणब (पा) उसाणिच्चं सुक्किल्लवासपरिहरित्ता विचिट्ठइ त्ति। लोगेण से णामं 'कयं पंडरज्ज' त्ति।

सा य विज्जा-मंत-वसीकरणुच्चाटणकोउएसु य कुसला जणेसु पउंज्जति।

जणो य से पणयसिरो कयंजलितो चिट्ठति।

अद्धवयातिक्कंता वेरग्गमुवगता गुरुं विण्णवेति - "आलोयणं पयच्छामि" त्ति।

आलोइए पुणो विण्णवेति - "ण दीहं कालं पवज्जं काउं समत्था"।

ताहे गुरुहिं अप्पं कालं परिकम्मवेत्ता विज्जामंतादियं सव्वं छड्डावेत्ता "परिण्ण" त्तिअणसणगं पच्चक्खायं। आयरिएहिं उभयवग्गो वि वारितो ण लोगस्स कहेयव्वं।

ताहे सा भत्ते पच्चक्खाते जहा पुव्वं बहुजणपरिवुडा अच्छित्ता इयाणिं न तहा अच्छति, अप्पसाहुसाहुणिपरिवारा चिट्ठइ। ताहे से अरती कज्जति। ततो ताए लोगवसीकरणविज्जा मणसाआवाहिता।

ताहे जणो पुप्फधूवगंधहत्थो अलंकितविभूसितो वंदवदेहिं।

उभयवग्गो पुच्छितो - किं ते जणस्स अक्खायं?

ते भणंति - "ण व" त्ति।

सा पुच्छित्ता भणति - मम विज्जाए अभिओइयं एति।

गुरुहिं भणिता - "ण वट्टति" त्ति।

CC-0. आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ताहे पडिक्कंता। सयं ठितो लोगो आगंतु। एवं तओ वारा सम्मं पडिक्कंता, चउत्थावराते पुच्छिता ण सम्ममाउट्टा भणति य - पुव्वब्भासाऽहुणा आगच्छंति।।३१९८।।

अणालोएउ कालगता सोहम्मे एरावणस्स अग्गमहिसी जाता। ताहे सा भगवतो वद्धमाणस्स समोसरणे आगत्ता, धम्मकहावसाणे हत्थिणिरूवं काउं भगवतो पुरतो ठिच्चा महतासद्देण वातं कम्मं करेति।

ताहे भगवं गोयमो जाणगपुच्छं पुच्छति।

भगवया पुव्वभवो से वागरितो। मा अण्णो वि को ति साहु साहुणी वा मायं काहिति, तेणेयाए वायकम्मं कतं, भगवता वागरियं।

तम्हा एरिसी माया दुरंता ण कायव्वा। -नि० भा० चू०।

कथा-सारांश[१८]

पाण्डुरार्या नामक एक शिथिलाचारिणी साध्वी थी। वह पीत संवलित शुक्ल वस्त्रों से सदा सुसज्जित रहती थी। इसलिए लोग उसे पाण्डुरार्या नाम से जानते थे। उसे विद्यासिद्ध थी और वह बहुत से मन्त्रों को जानने वाली थी। लोग उसके समक्ष करबद्ध सिर झुकाये बैठे रहते थे। उसने आचार्य से भक्तप्रत्याख्यान कराने के लिए कहा। तब गुरु ने सब प्रत्याख्यान करा दिया। भक्तप्रत्याख्यान करने पर वह अकेली बैठी रहती थी। उसके दर्शनार्थ कोई नहीं आता था। तब उसने विद्या द्वारा लोगों का आह्वान किया।

लोग पुष्प-गन्धादि लेकर उसके पास आना आरम्भ कर दिये। श्रावक-श्राविका वर्ग से पूछा गया कि क्या उन्हें बुलाया गया है? लोगों ने अस्वीकार किया। पूछने पर वह बोली मेरी विद्या का चमत्कार है। आचार्य ने कहा— त्याग करो। उसके द्वारा चामत्कारिक कार्य छोड़ने पर लोगों ने आना छोड़ दिया। आर्या पुनः एकाकिनी हो गई। तब चमत्कार द्वारा पुनः बुलाना आरम्भ किया। आचार्य द्वारा पूछने पर वह बोली कि लोग पूर्व अभ्यास के कारण आते हैं। इसप्रकार बिना आलोचना किये ही मृत्यु प्राप्त कर वह सौधर्म कल्प में ऐरावत की अग्रमहिषी उत्पन्न हुई वह भगवान् महावीर के समवसरण में हस्तिनी का रूप धारण कर आई है। कथा के अन्त में उच्चस्वर से शब्द की है। भगवान् ने पूर्वभव कहा। इसलिए कोई भी साधु अथवा साध्वी ऐसी दुरन्ता माया न करे।

७. लोभ कषाय विषयक आर्यमङ्गु दृष्टान्त

महुरा मंगू आगम बहुसुय वेरग्ग सङ्घपूयाय।
सातादिलोभ णितिए, मरणे जीहा य णिद्धमणे ।।११०।।

– द०नि०।[११]

अज्जमंगू आयरिया बहुस्सुया अज्झागमा बहुसिस्सपरिवारा उज्जयविहारिणो ते विहरंता महुरं णगरीं गता। ते "वेरग्गिय" त्ति काउं सड्ढेहिं वत्थातिएहिं पूइता, खीर-दधि-घय-गुलातिएहिं दिणे दिणे पज्जतिएण पडिलाभयंति।

सो आयरिओ लोभेण सातासोक्खपडिबद्धो ण विहरति। णितिओ जातो। सेसा साधू विहरिता।

सो वि अणालोइयपडिक्कंतो विराहियसामण्णे वंतरो णिद्धम्मणा जक्खो जातो।

तेण य पदेसेण जदा साहू णिग्गमण-पवेसं करेंति, ताहे सो जक्खो पडिमं अणुपविसित्ता महापमाणं जीहं णिल्लालेति।

साहूहिं पुच्छितो भणति - अहं सायासोक्खपडिबद्धो जीहादोसेण अप्पिड्ढिओ इह णिद्धम्मणाओ भोमेज्जे णगरे वंतरो जातो, तुज्झ पडिबोहणत्थमिहागतो तं मा तुब्भे एवं काहिह।

अण्णे कहेंति-जदा साहू भुंजंति तदा सो महप्पमाणं हत्थं सव्वालंकारं विउव्विऊण गवक्खदारेण साधूण पुरतो पसारेति।

साहूहिं पुच्छितो भणाति-सो हं अज्जमंगू इड्ढिरसपमादगरुओ मरिऊण णिद्धम्मणे जक्खो जातो, तं मा कोइ तुब्भे एवं लोभदोसं करेज्ज।।३२००।।

एवं कसायदोसे णाउं पज्जोसवणासु अप्पणो परस्स वा सव्वकसायाण उवसमणं कायव्वं।

– नि० भा० चू०।

कथा-सारांश[२०]

बहुश्रुत आगमों के अध्येता, बहुशिष्य परिवार वाले, उद्यत बिहारी आचार्य आर्यमङ्गु विहार करते हुए मथुरा नगरी गये। वस्त्रादि से श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा की गई। क्षीर, दधि, घृत, गुड़ आदि द्वारा उन्हें प्रतिदिन यथेच्छ प्रतिलाभना प्राप्त होती थी। साता सुख से प्रतिबद्ध हो विहार नहीं करने से उनकी निन्दा होने लगी। शेष साधु विहार किये। मङ्गु आलोचना और प्रतिक्रमण न कर श्रामण्य की विराधना करते हुए मरकर अधर्मी व्यन्तर यक्ष के रूप में उत्पन्न हुए। उस क्षेत्र से जब साधु निकलते और प्रवेश करते थे तब वह यक्ष, यक्षप्रतिमा में प्रवेशकर दीर्घ आकार वाली जिह्वा निकालता। श्रमणों द्वारा पूछने पर कहता— मैं साता सुख से प्रतिबद्ध जिह्वा-दोष के कारण अल्प ऋद्धि वाला होकर इस नगर में व्यन्तर उत्पन्न हुआ हूँ। तुम्हें प्रतिबोधित करने के लिए यहाँ आया हूँ। मेरे जैसा मत करना। कुछ लोग इस कथा को इसप्रकार भी कहते हैं— जब श्रमण आहार लेते थे तब वह समस्त अलङ्कारों से विभूषित हो दीर्घ आकार वाला हाथ गवाक्ष द्वार से साधुओं के आगे फैलाता।

साधुओं द्वारा पूछने पर कहता— यह मैं आर्यमङ्गु ऋद्धि और जिह्वा-लोभ से अत्यधिक प्रमाद वाला होकर मरणोपरान्त लोभ-दोष से अधर्मी यक्ष हुआ हूँ। इसलिए तुम लोग इसप्रकार लोभ मत करना।

सन्दर्भ

१. **समराइच्चकहा,** पूर्वार्द्ध (प्राकृत) आचार्य हरिभद्र, हि०अनु० डॉ०रमेशचन्द्र जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, प्रा०ग्र० २, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९९३, पृ० ४।

२. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति (मूल), सं० विजयामृतसूरि, **'निर्युक्तिसंग्रह'** हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला १८९, लाखाबावल १९८९, गाथा ९०-११०, पृ० ४८५-८६।

३. **निशीथभाष्य चूर्णि,** भाग ३, सं० आचार्य अमरमुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह (ग्र०स०५), पृ०१३९-१५५।

४. **दशाश्रुतस्कन्धमूलनिर्युक्तिचूर्णिः** — मणिविजयगणि ग्रन्थमाला सं०१४, भावनगर १९५४, पृ० ६०-६२।

५. **बृहत्कल्पभाष्य,** जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९३३-४२।
६. **आवश्यकचूर्णि,** दो खण्ड, ऋषभदेव केसरीमल संस्था, रतलाम १९२८-२९।
७. **द०नि०**, लाखाबावल, पृ० ४८५।
८. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ६० एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० १३९।
९. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ४८५।
१०. **द०चू०**, पूर्वोक्त पृ० ६०, एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त पृ० १३९-१४७।
११. **द०नि०**, पूर्वोक्त, पृ० ४८५।
१२. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ६१ एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० १४७-१४८।
१३. **द०नि०**, पूर्वोक्त, पृ० ४८।
१४. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ६१, एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० १४९-१५०।
१५. **द०नि०**, पूर्वोक्त, पृ० ४८६।
१६. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ६१, एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० १५०-१५१।
१७. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ४८६।
१८. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ६२ एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० १५१-१५२।
१९. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ४८६।
२०. **द०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० ६२, एवं **नि०भा०चू०**, पूर्वोक्त, पृ० १५२-१५३।

●

उपसंहार

'छिद्' धातु से काटने या भेदन अर्थ में घञ् पूर्वक निष्पन्न 'छेद' शब्द जैन परम्परा में प्रायश्चित्त विशेष के अभिप्राय में ग्रहण किया गया है। छेद प्रायश्चित्त के भागी श्रमण की दीक्षा के काल में दण्ड के अनुसार उच्छेद कर दिया जाता है। जैन परम्परा आचार के सम्यक् पालन पर अतिशय बल देती है। आचार की दृष्टि से क्या करणीय है और क्या नहीं, इस विधि-निषेध पक्ष के सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान के लिए जिन जैनागम ग्रन्थों में इस विषय की विशेष प्ररूपणा की गई है उनकी छेदसूत्र संज्ञा दी गई है। इनमें प्रायश्चित्त का भी विधान है।

प्रायश्चित्त विधि का निरुपण करने के कारण छेदसूत्र उत्तम कहा गया है— छेयसुयमुत्तमसुयं। 'इसकी उत्तमता का कारण **व्यवहारभाष्य** में निरूपित है— 'चारित्र में स्खलना होने पर या दोष लगने पर छेदसूत्रों के आधार पर विशुद्धि होती है। अत: पूर्वगत अर्थ को छोड़कर अर्थ की दृष्टि से अन्य आगमों की अपेक्षा छेदसूत्र बलवत्त है। (गाथा १८२९, लाडनूं १९९६)। गणाधिपति तुलसी ने 'छेयसुत्त' का संस्कृत 'छेक सूत्र' मानकर इसका कल्याणश्रुत या उत्तमश्रुत अर्थ माना है। (**व्य० भा०**, भूमिका, लाडनूं)

इनकी संख्या और इस वर्ग में समाविष्ट ग्रन्थों के विषय में यद्यपि मतभेद रहा है परन्तु वर्तमान में छेदसूत्र में— **दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ** और **जीतकल्प**— ये छ: छेदसूत्र समाविष्ट हैं। इनमें भी **दशाश्रुतस्कन्ध** को मुख्य ग्रन्थ माना गया है— इमं पुण छेयसुत्तपमुहभूतं (**द० श्रु० चू०**, पृ० ३-४)

यह सर्वमान्य है कि अधिकांश छेदसूत्र पूर्वों से निर्यूढ हैं। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने इसे नवम पूर्व प्रत्याख्यान की तृतीय आचार वस्तु से निर्यूहित किया है। (आचा०नि० २९९, **व्य० भा०**, ३१७३)। निर्यूहण का कारण बताते हुए कहा गया है कि नवम पूर्व सागर की भाँति विशाल है, उसकी सतत स्मृति में बार-बार परावर्तन की अपेक्षा रहती है, अन्यथा वह विस्मृत हो जाता है (**व्य० भा०**,७३७)। भद्रबाहु ने आयु-बल, धारणाबल, आदि की क्षीणता देखकर **दशा, कल्प** एवं **व्यवहार** का निर्यूहण किया किन्तु आहार, उपधि, कीर्ति या प्रशंसा आदि के लिए नहीं। (**द० श्रु० चू०**, पृ०३)।

दस दशाओं में विभक्त होने के कारण **'आयारदसा'** के नाम से भी प्रसिद्ध इस ग्रन्थ का परिमाण १२५६ ग्रन्थाग्र है। यह मुख्यतया गद्य में निबद्ध है। वर्तमान कल्पसूत्र इसकी आठवीं दशा का अंश रहा है, ऐसी मान्यता है।

इस छेदसूत्र के दशाओं की विषय-वस्तु परस्पर सम्बद्ध है और दसाओं का क्रम भी तार्किक दङ्ग से योजित है। विद्वान् प्रथम दशा के 'असमाधि' नामकरण का कारण यह मानते हैं कि शीर्षक के निषेधात्मक 'अ' को हटा देने से (समाधि) का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार यह शीर्षक एक साथ समाधि और असमाधि दोनों का बोध कराता है।

आगमों में उत्तम छेदसूत्र और छेदसूत्रों में प्रमुख **दशाश्रुतस्कन्धसूत्र** पर निर्युक्ति की रचना स्वाभाविक ही थी। आज उपलब्ध निर्युक्तियों में इसका परिमाण लघुतम है। इसका वर्गीकरण 'दशा' में न होकर 'अध्ययन' में है। अष्टम दशा (कल्पसूत्र) की निर्युक्ति भी इसमें विद्यमान है। प्रस्तुत निर्युक्ति में आठवीं दशा पर निर्युक्ति की गयी है। प्रो०सागरमल जैन ने व्यक्तिगत वार्तालाप में मत व्यक्त किया कि **दशाश्रुतस्कन्ध** से आठवीं दशा को वलभी के राजा ध्रुवसेन के समय पृथक् कर और उसमें जिनचरित्र और स्थविरावली को जोड़कर **कल्पसूत्र** का वर्तमान स्वरूप प्रदान किया गया है। इससे सिद्ध होता है कि आठवीं दशा के निकालने के पूर्व निर्युक्ति की रचना हो चुकी थी। आठवीं दशा की निर्युक्ति में जिनचारित्र और स्थविरावली का उल्लेख नहीं होने से भी यह स्पष्ट होता है। इसकी गाथा सं० १५४, १४४, १४१ और ९९ उल्लिखित है परन्तु वास्तविक गाथा संख्या १४१ ही है शेष उल्लेख पूरी तरह निराधार एवं भ्रामक हैं।

आधुनिक विद्वानों द्वारा आचार्य भद्रबाहु प्रथम (ई०पूर्व ३-४ शताब्दी), शिवभूति शिष्य काश्यपगोत्रीय, आर्यभद्रगुप्त, आर्यविष्णु के प्रशिष्य आर्यकालक के शिष्य गौतमगोत्रीय आर्यभद्र और भद्रबाहु 'द्वितीय' या 'नैमित्तिक, निर्युक्तियों के कर्त्ता के रूप में स्वीकार किये जाते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् एम०विण्टरनित्स और प्रो० कापडिया, प्रथम भद्रबाहु को तथा ल्यूमान, मुनि पुण्यविजय, आचार्य हस्तीमल जी नैमित्तिक भद्रबाहु को, तो प्रो०सागरमल जैन ने गौतमगोत्रीय आर्यभद्र को निर्युक्तिकार के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में तर्क दिया है। समणी कुसुमप्रज्ञा की मान्यता है कि निर्युक्तियों के कर्ता आचार्य भद्रबाहु 'प्रथम' थे परन्तु द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों में परिवर्धन किया। अपनी इस मान्यता के पक्ष में उन्होंने प्रमाण दिया है कि **दशवैकालिक, आवश्यक** आदि की निर्युक्तियों में चूर्णि एवं टीका की गाथा संख्या में काफी अन्तर है। (**व्य० भा०**, भूमिका, पृ०३८)।

द०नि० के आठवें अध्ययन की ६७ गाथाओं के स्थान पर नि०भाष्य में ७२ गाथाओं का 'इमाणिज्जुत्ती' कहकर 'उद्धरण के रूप में प्राप्त होना तथा इन पाँच अतिरिक्त गाथाओं की चूर्णि, **दशा०चूर्णि** और **नि०चू०** में यथोचित स्थान पर मिलना बहुत महत्त्वपूर्ण है। यही नहीं इन अतिरिक्त गाथाओं की विषय प्रतिपादन की दृष्टि से साकाङ्क्षता भी है।

इससे यह सम्भावना बनती है कि भाष्यकार (निशीथ) तथा उक्त चूर्णिकारों के समय में इस अध्ययन में ७२ गाथायें रही होंगी। **द०नि०** में एक ही गाथा दो स्थलों पर और वह भी अनवरत क्रम से (क्रमाङ्क ३२ और ३३ पर) उपलब्ध है जो बहुत ही असङ्गत प्रतीत होता है। इससे यह सम्भावना बनती है कि इस निर्युक्ति से कुछ गाथायें कालान्तर में हटाई गई है।

द०नि० की अधिकांश गाथाओं में संस्कृत मात्रिक छन्द आर्या का प्राकृत रूप 'गाथा सामान्य' प्रयुक्त हुआ है। इसमें चारों चरणों की मात्राओं का योग ५७ होता है। अपवाद स्वरूप में कुछ गाथायें गाहू (५४ मात्रा) उद्गाथा (६० मात्रा) और गाहिनी (६२ मात्रा) में निबद्ध हैं।

छन्द की दृष्टि से गाथाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि १४१ में से ४७ गाथायें ही यथास्थिति में शुद्ध है और २९ गाथाओं में कवि-समय या परम्परा के अनुसार गुरु का ह्रस्व और ह्रस्व की गुरु गणना करने से गाथा लक्षण घटित हो जाता है। इस प्रकार ७६ गाथायें छन्द की दृष्टि से शुद्ध है।

अशुद्ध ६५ गाथाओं में से कुछ गाथायें प्राकृत भाषा शब्द-धातु रूपों के नियमानुसार अनुस्वार का ह्रास अथवा वृद्धि कर देने पर छन्द की दृष्टि से शुद्ध हो जाती हैं तो कुछ में शब्द-धातु रूपों के नियमों के ही परिप्रेक्ष्य में स्वर को ह्रस्व या दीर्घ कर देने पर वे शुद्ध हो जाती है। **दशाश्रुतस्कन्ध** की कतिपय गाथाओं को छन्द की दृष्टि से शुद्ध करने के लिए पादपूरक निपातों का समावेश करना अपेक्षित है।

निर्युक्त गाथाओं की अन्यत्र प्राप्त समान्तर गाथाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने से जो तथ्य हमारे सामने आते हैं उनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण यह है कि पाठभेद मात्र छन्द-दोष की ही सूचक नहीं है। रचनाकार द्वारा अलग-अलग छन्द में भी रचना करने के कारण पाठ भेद दृष्टिगोचर होता है साथ ही कुछ गाथाओं के पाठान्तरों में ग्रन्थकारों द्वारा किसी-किसी गाथा में एक या दो भिन्न शब्द प्रयुक्त किये गये हैं परन्तु परिवर्तित शब्दों की मात्रा भी इस प्रकार है कि छन्द परिवर्तित नहीं होता है। किसी-किसी गाथा का पाठान्तर अर्थाभिव्यक्ति में भी सहायक सिद्ध होता है।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज

इसप्रकार पाठान्तरों के आलोक में प्राचीन ग्रन्थों का छन्द की दृष्टि से अध्ययन बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यद्यपि निर्युक्ति-संरचना या इसके घटकों को समग्र रूप से अभिव्यक्त करने वाला उल्लेख अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। फिर भी निक्षेप, एकार्थ, निरुक्त एवं दृष्टान्तकथायें तथा सूत्र ग्रन्थ के कुछ चुने विषयों का प्रतिपादन निर्युक्ति के प्रमुख घटक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं। इनमें निक्षेप प्रमुख घटक है। निर्युक्तिकार पहले सूत्र ग्रन्थ के शीर्षक का, तत्पश्चात् उसके प्रत्येक अध्ययन के शीर्षक का निक्षेप करता है। यदि किसी शब्द का पूर्व (निर्युक्तियों में) निक्षेप हो चुका है तो उसका निर्देश प्रायः 'पुव्वुद्दिट्ठं' कहकर कर दिया जाता है। शीर्षक में प्राप्त शब्दों के अतिरिक्त निर्युक्ति में सूत्र ग्रन्थ के कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण शब्दों का भी निक्षेप प्राप्त होता है। उल्लेखनीय है कि अनिवार्य रूप से सभी अध्ययनों के शीर्षक शब्दों निक्षेप नहीं हुआ है। उदाहरण स्वरूप **दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति** के दूसरे अध्ययन शीर्षक 'शबल' का निक्षेप नहीं हुआ है। यह भी देखने में आया है कि शीर्षक शब्द का निक्षेप न कर उसके किसी पर्यायवाची का निक्षेप कर दिया गया है, जैसे अष्टम पर्युषणा अध्ययन के पयुर्षणा शब्द का निक्षेप न कर इसके पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख कर पर्यायवाची स्थापना का निक्षेप किया गया है।

दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति में सूत्र के शीर्षक शब्दों के अतिरिक्त गण, उपग्रह, सङ्ग्रह, परिज्ञा और बन्ध का निक्षेप किया गया है।

प्रस्तुत निर्युक्ति में प्राप्त एकार्थक शब्दों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि एकार्थक के रूप में कुछ ऐसे भी शब्द ग्रहण किये गये है जो शब्दकोशों के अनुसार सीधे पर्यायवाची नहीं हैं।

निर्युक्ति में प्राप्त कथा-सङ्केत धर्मकथाओं के तत्कालीन स्वरूप और उनके परवर्ती विवरण का तुलनात्मक अध्ययन करने में सहायक हैं।

●

श्रीदशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्तिः

।।१।।प्रथमासमाधिस्थानाध्ययननिर्युक्तिः।।

वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसयलसुयनाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥१॥
आउ विवागज्झयणाणि भावओ दव्वओ उ वत्थदसा।
दसआओ विवागदसा वाससयाओ दसहच्छेत्ता॥२॥
बाला मंदा किड्डा बला य पण्णा य हायणिपवंचा।
पब्भारमुम्मुही सयणी नामेहि य लक्खणेहिं दसा॥३॥

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

वन्दे भद्रबाहुं प्राचीनं चरमसकलश्रुतज्ञानिनम्।
सूत्रस्य कारकं ऋषिं दशासु कल्पे च व्यवहारे॥१॥
आयुर्विपाकाध्ययनानि भावतो द्रव्यतो तु व्यस्तदशा।
दशाः विपाकदशाः वर्षशतानि दशधा छित्वा॥२॥
बाला मन्दा क्रीडा बला च प्रज्ञा च हायनी प्रपञ्चा।
प्राग्भारमुन्मुखी शायनी (स्वापनी) नामभिश्च लक्षणैर्दश॥३॥

(हिन्दी अनुवाद)

मैं सम्पूर्ण श्रुतों (चौदह पूर्वों सहित समस्त आगमों) के अन्तिम ज्ञाता, आचारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), कल्प और व्यवहारसूत्र के कर्ता प्राचीनगोत्रीय ऋषि भद्रबाहु को वन्दन करता हूँ।।१।।

भाव (निक्षेप की अपेक्षा) से दशा का आयुविपाक—जीवन की विविध अवस्थायें और अध्ययन—शास्त्र के विभाग, द्रव्य की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ (अर्थ है)। आयु-विपाक की दृष्टि से सौ वर्ष की आयु को दस से विभक्त कर (स्व-स्व) लक्षणों के आधार पर नामयुक्त दस अवस्थायें होती हैं— बाला, मन्दा, क्रीडा, बला, प्रज्ञा, हायनी, प्रपञ्चा, प्राग्भारा, मुन्मुखी और शायनी (स्वापनी) ।।२-३।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दसआओ विवागदसा नामेहि य लक्खणेहिं एहिंति।
एत्तो अज्झयणदसा अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥४॥
डहरीओ उ इमाओ अज्झयणेसु महईओ अंगेसु।
छसु नायादीएसुं वत्थविभूसावसाणमिव ॥५॥
डहरीओ उ इमाओ निज्जूढाओ अणुग्गहट्ठाए।
थेरेहिं तु दसाओ जो दसा जाणओ जीवो ॥६॥
असमाहि य सबलत्तं अणसादणगणिगुणा मणसमाही।
सावगभिक्खूपडिमा कप्पो मोहो नियाणं च ॥७॥

दशा विपाकदशाः नामभिश्च लक्षणैरस्मिन्निति ।
इत अध्ययनदशाः यथाक्रमं कीर्तयिष्यामि ॥४॥
लघ्व्यस्तु इमा अध्ययनेषु महत्योऽङ्गेषु ।
षट्सु ज्ञातादिषु वस्त्रविभूषावसानमिव ॥५॥
लघ्व्यस्तु इमाः निर्व्यूढा अनुग्रहार्थाय।
स्थविरैस्तु दशाः या दशा ज्ञायको जीवः ॥६॥
असमाधिश्च शबलत्वमाशातनागणिगुणाः ।
मनः समाधिः श्रावकभिक्षुप्रतिमाः कल्पो मोहो निदानं च ॥७॥

इसप्रकार आयुविपाक की अपेक्षा से नाम और लक्षणों के आधार पर इसमें (ऐहिक) जीवन की दस अवस्थायें कही गयी हैं। आगे अध्ययन दशाओं अर्थात् दशाश्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों का यथाक्रम कथन करूँगा।।४।।

(श्रमणाचार और श्रावकाचार का) संक्षेप में वर्णन, दशाश्रुतस्कन्ध की दस दशाओं में और विस्तार से अङ्गों के अध्ययनों में है। ज्ञातादि छः अङ्गों में वस्त्र-वेश का विवरण समाहित है।।५।।

स्थविरों ने ज्ञानाभिलाषी जीवों के अनुग्रहार्थ (आचार सम्बन्धी) इन दस अध्ययनों को (पूर्व साहित्य से) संक्षेप में उद्धृत किया है— असमाधि स्थान, शबलदोष, आशातना, गणिगुण, मनःसमाधि, श्रावक-प्रतिमा, भिक्षु-प्रतिमा, कल्प, मोह और निदान।।६-७।।

दसाणं पिंडत्थो एसो मे वण्णिओ समासेणं।
एत्तो एक्केक्कंपि य अज्झयणं कित्तइस्सामि ॥८॥
दव्वं जेण व दव्वेण समाही आहियं च जं दव्वं।
भावो सुसमाहितया जीवस्स पसत्थजोगेहिं ॥९॥
नामं ठवणा दविए खेत्तद्धा उड्ढ ओवरई वसही।
संजमपग्गहजोहे अचलगणणसंधणाभावे ॥१०॥
वीसं तु णवरि णेम्मं अइरेगाइं तु तेहिं सरिसाइं।
नायव्वा एएसु य अन्नेसु य एवमाईसु ॥११॥

।। असमाहिट्ठाणनिज्जुत्ती समत्ता ।।१।।

दशानां पिण्डार्थ एष मया वर्णितः समासेन।
इत एकैकमपि च अध्ययनं कीर्तयिष्यामि ॥८॥
द्रव्यं येन वा द्रव्येण समाधिराधृतं च यद्द्रव्यम्।
भावो सुसमाधितया जीवस्य प्रशस्तयोगैः ॥९॥
नामस्थापनाद्रव्याणि क्षेत्रकालावूर्ध्वमुपरतिर्वसतिः।
संयमः प्रग्रहो योधमचलं गणना सन्धानं भावः ॥१०॥
विंशतिस्तु केवलं नेमानि अतिरिक्तानि तु तैः सदृशानि।
ज्ञातव्यानि एतेषु चान्येषु चैवमादिषु ॥११॥

मेरे द्वारा आचारदशा का दस अध्ययन समूह संक्षेप में वर्णित किया गया। आगे एक-एक अध्ययन का कथन करूँगा।।८।।

द्रव्य निक्षेप की अपेक्षा से जिस द्रव्य से अथवा जिस द्रव्य का आलम्बन कर समाधि प्राप्त होती है, वह द्रव्य समाधि है, भाव निक्षेप की अपेक्षा से जीव के प्रशस्त योग द्वारा जो सुसमाहित (चित्तवृत्ति की प्रशान्त) अवस्था प्राप्त होती है वह भाव समाधि है।।९।।

(समाधि के १४ स्थान—) नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, ऊर्धत्व, उपरति (विरामस्थान), वसति (उपाश्रय), संयमस्थान, प्रग्रह (नियन्त्रक स्थान), योध (आसनविशेष), अचलत्व (स्थिरता), गणना (संख्या) और निरन्तरता।।१०।।

असमाधि के बीस स्थान साङ्केतिक हैं, ये एवं इन के सदृश अन्य भी (बीस से) अधिक हो सकते हैं ऐसा जानना चाहिए।।११।।

।।२।। द्वितीयसबलाध्ययननिर्युक्तिः।।

दव्वे चित्तलगोणाइएसु भावसबलो खुतायारो ।
वतिक्कम अइक्कमे अतियारे भावसबलोउ ॥१२॥
अवराहम्मि य पयणुए जेणउ मूलं न वच्चए साहू ।
सबलेई तं चरित्तं तम्हा सबलत्तणं बिंत्ति॥१३॥
वालेराई दाली खंडो बोडे खुत्ते य भिन्ने य।
कम्मासपट्ट सबले सव्वावि विराहणा भणिआ ॥१४॥

।। सबलनिज्जुत्ती समत्ता।।२।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द्रव्ये चित्रलगवादिरेषु भावशबलः क्षुद्राचारः ।
व्यतिक्रमेऽतिक्रमेऽतिचारे भावशबलस्तु ॥१२॥
अपराधे च प्रतनुर्येन तु मूलं न व्रजेत् साधोः ।
शबलति तच्चरित्रं तस्मात् शबलत्वं वदन्ति ॥१३॥
बालो राजिः दारी खण्डो भग्नो छिद्रश्च भिन्नश्च ।
कर्पासपटः शबलः सर्वाअपि विराधनाः भणिताः॥१४॥

चितकबरे बैलादि द्रव्य (शबल कहे जाते हैं जबकि) दूषित चरित्र वाले भाव शबल (कहे जाते है)। व्यतिक्रम—नियमविरुद्ध आचरण, अतिक्रम—नियम का उल्लङ्घन, और अतिचार—नियम का आंशिक भङ्ग — ये भावशबल हैं।।१२।।

सूक्ष्म अपराध (दुर्भाषितादि) जिससे श्रमण का मूल न जाय, वह (अपराध) चारित्र को दूषित करता है, इस कारण उसे शबलता का विस्तार करने वाला कहते हैं।।१३।।

(जिसप्रकार कोई घड़ा भले ही उसमें) बाल के बराबर दरार हो अथवा राई अथवा दाल के बराबर छिद्र हो अथवा खण्डित हो या थोड़ा या अधिक टूटा हुआ हो वह टूटा ही कहा जाता है, जिसप्रकार श्वेत सूती वस्त्र (पर छोटा या बड़ा दाग या धब्बा हो वह वस्त्र मलिन ही कहा जायगा, उसी प्रकार किसी चारित्र में छोटी या बड़ी) सभी विराधनायें शबल दोषयुक्त ही कही जायेगी।।१४।।

।।३।। तृतीयाशातनाध्ययननिर्युक्तिः ।।

आसायणाओ दुविहा मिच्छा पडिवज्जणा य लाभे अ ।
लाभे छक्कं तं पुणं इट्ठमणिट्ठं दुहेक्केक्कं ॥१५॥
साहू तेणे ओग्गह कंतारविआल विसममुहवाही ।
जे लद्धा ते ताणं भणंति आसायणा उ जगे ॥१६॥
दव्वं माणुम्माणं हीणाहिअं जंमि खेत्ते जं कालं ।
एमेव छव्विहंमि भावे पगयं तु भावेण ॥१७॥

आशातनास्तु द्विविधाः मिथ्याप्रतिपादना च लाभश्च।
लाभः षट्कः सः पुनरिष्टमनिष्टं द्विधैकैकम्॥१५॥
साधोः स्तेनावग्रहकान्तारविकाल विषममुखोपाधिः।
ये लब्धास्ते तेषां कथयन्ति आशातनास्तु जगति ॥१६॥
द्रव्यं मानोन्मानं हीनाधिकं यस्मिन् क्षेत्रे यत्कालम्।
एवमेव षड्विधो भावः प्रकृतं तु भावेन॥१७॥

आशातनायें दो प्रकार (की होती हैं)— मिथ्या प्रतिपादन आशातना और लाभ आशातना। लाभ आशातनायें (नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से) छः प्रकार की होती हैं, पुनः ये आशातनायें इष्ट और अनिष्ट दो प्रकार की होती हैं।।१५।।

संसार में (चोरों द्वारा हरण की गई साधु की उपाधियों का पुनः) ग्रहण (अनिष्ट) और शुद्ध उपधि का ग्रहण इष्ट द्रव्याशातना है, क्षेत्र दृष्टि से (सचित्तादि का) अरण्य (आदि) में प्राप्ति अनिष्ट और ग्राम आदि में प्राप्ति इष्ट क्षेत्राशातना है काल की दृष्टि से विकाल (दुर्भिक्ष) में प्राप्ति अनिष्ट और सुभिक्ष में प्राप्ति इष्ट आशातना हैं।।१६।।

(मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना इष्ट और अनिष्ट दो प्रकार की इस रूप में भी होती है—) (सम्यक्) या न्यूनाधिक परिमाण में गृहीत और प्रदत्त द्रव्य की दृष्टि से जिस क्षेत्र और जिस काल में (साधु को प्राप्त हो)। भाव दृष्टि से मिथ्याप्रतिपत्ति आशातना के छः प्रकार होते हैं।।१७।।

छट्ठट्ठमपुव्वेसुं आउवसग्गोत्ति सव्वजुत्तिकओ।
पयअत्थविसोहिकरो दिन्तो आसायणा तम्हा ॥१८॥
मिच्छा पडिवत्तीए जे भावा जत्थ होंति सब्भूआ।
तेसिं तु वितह पडिवज्जणाए आसायणा तम्हा ॥१९॥
न करेइ दुक्खमोक्खं उज्जममाणोवि संजमतवेसुं।
तम्हा अत्तुक्करिसो वज्जेअव्वो पयत्तेणं ॥२०॥
जाणि भणिआणि सुत्ते ताणि जो कुणइ अकारणज्जाए।
सो खलु भारियकम्मो न गणेइ गुरुं गुरुट्ठाणे॥२१॥

षष्ठाष्टमपूर्वेषु आङ्-उपसर्ग इति सर्वयुक्तिकृतः।
पदार्थविशोधिकरः ददद् आशातना तस्मात् ॥१८॥
मिथ्या प्रतिपत्त्या ये भावा यत्र भवन्ति सद्भूताः।
तेषां तु वितथ प्रतिपादनया आशातना तस्मात् ॥१९॥
न करोति दुःखमोक्ष मुद्यममानोऽपि संयमतपस्सु।
तस्मात् आत्मोकर्षो वर्जयितव्यः प्रयत्नेन ॥२०॥
यानि भणितानि सूत्रे तानि यः करोति अकारणतया।
स खलु भारितकर्मा न गणयति गुरुं गुरुस्थाने ॥२१॥

षष्ठ पूर्व (सत्यप्रवाद के अक्षर प्राभृत) में, अष्टमपूर्व (कर्मवाद के अष्टम महानिमित्त के स्वर-चिन्ता में) उपसर्ग वर्णित है। यह (उपसर्ग) सभी योगों और पदार्थ को विशोधि दोष से युक्त करने वाला है, उससे अकस्मात् आशातना होती है।।१८।।

जो भाव (तथ्य) जिस रूप में विद्यमान होते हैं उनके विषय में असत्य कथन करने से मिथ्याप्रतिपादन आशातना होती है।।१९।।

तप और संयम में प्रयत्नशील साधकों के विषय में भी दुःखविमुक्ति के लिए (प्रयत्न) नहीं कर रहा है, (इस कथन द्वारा) अपनी श्रेष्ठता का प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिए।।२०।।

जो (गुरु-आशातनायें) सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध) में उपदिष्ट हैं, उनका जो कारण के बिना (भय की स्थिति या जङ्गल आदि के अतिरिक्त) आचरण करता है, जो गुरु और

दंसणनाणचरित्तं तवो य विणओ अ हुंति गुरुमूले।
विणओ गुरुमूलेत्ति अ गुरूणं आसायणा तम्हा ॥२२॥
जाइं भणिआइं सुत्ते ताइं जो कुणइ कारणज्जाए।
सो न हु भारियकम्मो नु गणेइ गुरू गुरुट्ठाणं ॥२३॥
सो गुरुमासायंतो दंसणणाणचरणेसु सयमेव।
सीयति कत्तो आराहणा से तो ताणि वज्जेज्जा ॥२४॥

॥आसायणनिज्जुत्ती सम्मत्ता ॥३॥

दर्शनज्ञानचारित्रं तपश्च विनयश्च भवन्ति गुरुमूले।
विनयः गुरुमूलमिति च गुरूणामाशातना तस्मात् ॥२२॥
यानि भणितानि सूत्रे तानि यः करोति कारणतया।
स न खलु भारितकर्म गणयति गुरुं गुरुस्थाने ॥२३॥
सो गुरुमाशातयन् दर्शनज्ञानचरणेषु स्वयमेव।
सीदति कुतः आराधना स तदा तानि वर्जयेत् ॥२४॥

गुरुस्थान के प्रति (अभ्युत्थान, पादप्रमार्जन, आहार आदि) नहीं करता वह भारितकर्मा जीव है॥२१॥

गुरु के चरणों (सान्निध्य) में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और विनय उत्पन्न होते हैं। गुरु का मूल विनय है, अतः उस (गुरु के प्रति विनय भाव दर्शित न करने से) गुरु की आशातना होती है॥२२॥

जो गुरु को गुरुस्थान पर मानता है, (गुरु आदि के प्रति) जो आशातनायें सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध) में कही गई हैं उनका सकारण ही आचरण करता है, वह जीव भारितकर्मा नहीं होता है॥२३॥

गुरु की आशातना करने वाले का दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्वयं ही शिथिल हो जाता है, उसकी आराधना कैसे हो सकती है, अतः उनका गुरु की आशातनाओं का त्याग करना चाहिए॥२४॥

।।४।। चतुर्थगणिसम्पदाध्ययननिर्युक्तिः ।।

दव्वंसरीरभविओ भावगणी गुणसमन्निओ दुविहो।
गणसंगहुवग्गहकारओ अ धम्मं च जाणतो ॥२५॥
नायं गणिअं गुणिअं गयं च एगट्ठएवमाईअं।
नाणी गणित्ति तम्हा धम्मस्स विआणओ भणिओ ॥२६॥
आयारंमि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ।
तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिट्ठाणं॥२७॥
गणसंगहुवग्गहकारओ गणी जो पहू गणं धरिउं।
तेण णओ छक्कं संपयाए पगयं चउसु तत्थ॥२८॥

द्रव्यशरीरभविकः भावगणिः गुणसमन्वितः द्विविधः।
गणसङ्ग्रहोपग्रहकारकश्च धर्मं च जानन्॥२५॥
ज्ञातं गणितं गुणितं गतं च एकार्थमेवमादिकम्।
ज्ञानीन गणिति तस्मात् धर्मस्य विज्ञायको भणितः ॥२६॥
आचारे अधीते यत् ज्ञातः भवति श्रमणधर्मस्तु।
तस्मात् आचारधरो भण्यते प्रथमं गणिस्थानम् ॥२७॥
गणसङ्ग्रहोपग्रहकारकः गणिः यत्प्रभुः गणं धारितुम्।
तेन नयः षट्कं सम्पदः प्रकृतं चतसृषु तत्र ॥२८॥

गणि दो प्रकार का होता है— गणि का सांसारिक शरीर (द्रव्यगणि और गणि के आचार सम्पदा आदि आठ) गुणों से युक्त भावगणि। गणि धर्म (आचार नियमों) का ज्ञाता और गण का सङ्ग्रह और उपकार करने वाला गणि होता है।।२५।।

ज्ञात (विदित), गणित (गिना हुआ), गुणित (मनन किया हुआ), गत (जाना हुआ) आदि एकार्थक हैं। धर्म अर्थात् आचार-व्यवस्था का ज्ञाता होने से इसे ज्ञानी, गणि आदि कहा गया है।।२६।।

आचार (अङ्ग) का अध्ययन करने पर ही श्रमण धर्म ज्ञात होता है इसलिए आचारधर (आचाराङ्ग का ज्ञाता) ही प्रथम गणिस्थान या गुण कहा जाता है।।२७।।

जो गण का सङ्ग्रह और उपकार करने और गण को धारण करने में समर्थ है वही गणि है। प्रस्तुत चतुर्थ अध्ययन में गणिसम्पदा का छः अपेक्षाओं से वर्णन किया गया है।।२७।।

दव्वे भावे य सरीरसंपया छव्विहा य भावंमि।
दव्वे खेत्ते काले भावम्मि य संगहपरिण्णा॥२९॥
जह गयकुलभूओ गिरिकंदरकडगविसमदुग्गेसु।
परिवहइ अपरितंतो निअयसरीरुग्गए दंते॥३०॥
तह पवयणभत्तिगओ साहम्मियवच्छलो असढभावो।
परिवहइ असहुवग्गं खेत्तविसमकालदुग्गेसु॥३१॥

॥गणिणिज्जुत्ती समत्ता॥४॥

॥५॥ पञ्चम श्रेण्यध्ययननिर्युक्तिः ॥

दव्व तदट्ठोवासकमोहे भावे उवासका चउरो।
दव्वसरीरभविओ तदट्ठिओ उयणाईसु॥३२॥

द्रव्ये भावे च शरीरसम्पत् षड्विधा च भावे।
द्रव्ये क्षेत्रे काले भावे च संग्रहपरिज्ञा॥२९॥
यथा गजकुलभूतः गिरिकन्दरकटकविषमदुर्गेषु।
परिवहति अपरितान्तः निजकशरीरोद्गतौ दन्तौ॥३०॥
तथा प्रवचनभक्तिगतः साधर्मिकवत्सलः अशठभावः।
परिवहति असहवर्गं क्षेत्रविषमकालदुर्गेषु॥३१॥
द्रव्यतदर्थोपासको मोहो भावो उपासकाः चत्वारः।
द्रव्यशरीरभव्यः तदर्थिकः ओदनादिषु॥३२॥

शरीर सम्पदा दो प्रकार की होती है— द्रव्य और भाव। भाव दृष्टि से (शरीर सम्पदा) छः प्रकार की होती है। संग्रहपरिज्ञा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव दृष्टि से (चार प्रकार की होती है)॥२९॥

जिस प्रकार गजवंश में उत्पन्न, पर्वत, कन्दरा, पर्वतखण्ड और विषम स्थानों पर बिना खिन्न हुए अपने शरीर पर उगे हुए दाँतों को वहन करता है उसी प्रकार प्रवचन अर्थात् जिनप्रणीत सिद्धान्त के प्रति भक्ति से युक्त, साधर्मिकवत्सल तथा असमर्थ जनों को विषमक्षेत्र और दुष्काल में सरलतापूर्वक वहन (सहायता आदि प्रदान) करता है॥३०-३१॥

।।६।। षष्ठोपासकप्रतिमाध्ययननिर्युक्तिः ।।

दव्वतदट्ठो वा स कमोहे भावे उवासओ दुविहो ।
दव्वे सरीरभविउं तदट्ठिओ ओयणाईसु ॥३३॥
कुप्पवयणं कुधम्मं उवासए मोहुवासको सोउ ।
हंदि तहिं सो सेयं ति मण्णती सेयं नत्थि तहिं ॥३४॥
भावे उ सम्मद्दिट्ठी असमणो जं उवासए समणे ।
तेण सो गोण्णं नाम उवासगो सावगो वेत्ति ॥३५॥
कामं दुवालसंगं पवयणमणगारगारधम्मो अ ।
ते केवलीहिं पसूआ पउवसग्गो पसूअंति ॥३६॥

कुप्रवचनं कुधर्ममुपासको मोहोपासकः स तु ।
हन्त! तत्र स श्रेयइति मन्यते श्रेयो नास्ति तत्र ॥३४॥
भावे तु सम्यग्दृष्टिश्रमणो यदुपासकः श्रमणान् ।
तेन स गौणो नाम उपासकः श्रावको वेति ॥३५॥
कामं द्वादशाङ्गं प्रवचनमनगारागारधर्मञ्च ।
ते केवलीभिः प्रसूताः प्र उपसर्गात् प्रसूयन्ति ॥३६॥

उपासक चार प्रकार का होता है— द्रव्योपासक, तदर्थोपासक, मोहोपासक और भावोपासक। द्रव्यशरीर से उपासक होने योग्य (द्रव्योपासक तथा) ओदनादि पदार्थों की इच्छा रखने वाला तदर्थोपासक है।।३२-३३।।

(जो) कुप्रवचन और कुधर्म (जिनेतर धर्म) की उपासना करता है, वह मोहोपासक है, खेद है वह (मोहोपासक) वहाँ (कुधर्म में) श्रेय (कल्याण) मानता है (किन्तु) वहाँ श्रेय (कल्याण) नहीं है।।३४।।

श्रमणेतर सम्यग्दृष्टि, श्रमण की उपासना करने के कारण उपासक अथवा श्रावक गौण अर्थात् गुण-निष्पन्न नाम वाला होने से भावोपासक है।।३५।।

द्वादशाङ्गों में अनगार धर्म और आगार धर्म का प्रवचन है, वे (अनगार और आगार) केवलज्ञानियों द्वारा उत्पन्न किये गये 'प्र' उपसर्गपूर्वक उत्कृष्ट अर्थ में प्रसूत होते हैं।।३६।।

मार्गदर्शक – आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तो ते सावग तम्हा उवासगा तेसु होंति भत्तिगया।
अविसेसंमि विसेसो समणेसु पहाणया भणिया ॥३७॥
कामं तु निरवसेसं सव्वं जो कुणइ तेण होइ कयं।
तंमि ठिताओ समणा नोवासगा सावगा गिहिणो ॥३८॥
दव्वंमि सचित्तादी संजमपडिमा तहेव जिणपडिमा।
भावो संताण गुणाण धारणा जा जहिं भणिआ ॥३९॥
सा दुविहा छबिगुणा भिक्खूणं उवासगाणं एगूणा।
उवरिं भणिया भिक्खूणुवासगाणं तु वोच्छामि ॥४०॥

ततः ते श्रावकाः तस्मादुपासकाः तेषु भवन्ति भक्तिगताः।
अविशेषे विशेषः श्रमणेषु प्रधानता भणिता ॥३७॥
कामं तु निरवशेषं सर्वं यत्करोति तेन भवति कृतम्।
तस्मिन् स्थिताः श्रमणाः न उपासकाः श्रावकाः गृहिणः॥३८॥
द्रव्ये सचित्तादयः संयमप्रतिमा तथैव जिनप्रतिमा।
भावः सन् गुणानां धारणा या यत्र भणिता॥३९॥
सा द्विविधा षड्द्विगुणाः भिक्षूणामुपासकानामेकोना।
उपरि भणिता भिक्षूणामुपासकानां तु वक्ष्यामि ॥४०॥

इस कारण वे श्रावक उन (धर्मों) में भक्तियुक्त होने से उपासक होते हैं। सामान्यतः श्रमणों के प्रति (भक्ति की) विशेष प्रधानता के कारण गृही ही उपासक कहे गये हैं।।३७।।

जो कार्य को सम्पूर्णता से करता है, उसी के द्वारा वह कृत माना जाता है। केवलज्ञानी के रूप में विद्यमान होने पर वे श्रमण उपासक नहीं होते हैं, इसलिए गृही ही श्रावक होते हैं।।३८।।

(प्रतिमा नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूप से चार प्रकार की होती है।) द्रव्य प्रतिमा सचित्त (अचित्त, मिश्र) आदि रूप। (संन्यास की इच्छा वाले गृहस्थ का द्रव्यचिह्न) संयम प्रतिमा है, उसी प्रकार जिन प्रतिमा है। प्रतिमा (विशेष) के उपदिष्ट गुणों को धारण करना भाव प्रतिमा है।।३९।।

वह (प्रतिमा) दो प्रकार की होती है— (भिक्षु प्रतिमा और उपासक प्रतिमा), भिक्षुओं की छः की दोगुनी (अर्थात् बारह) और उपासकों की एक कम (अर्थात् ग्यारह

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

तत्थहिगारो तु सुहं नाउं आइक्खिआव गिहिं धम्मं ।
साहूणं च तव संजमंमि . संवेगकरणाणि ॥४१॥
जइ ता गिहिणो वि य उज्जमंति नणु साहुणावि कायव्वं।
सव्वत्थामो तवसंजमंमि इअ सुद्धनाऊणं ॥४२॥
दंसणवयसामाइयपोसहपडिमा अबंभसच्चित्ते ।
आरंभपेसउद्दिट्ठवज्जए समणभूए अ ॥४३॥

।। उवासगपडिमा निज्जुत्ती समत्ता ।।६।।

तत्राधिकारस्तु सुखं ज्ञातुं आख्यायितः च गृहिणः धर्मः ।
साधूनां च तपःसंयमयोः संवेगकरणानि ॥४१॥
यदि ते गृहिणः अपि च उद्यमन्ति ननु साधुनापि कर्त्तव्यम्।
सर्वस्थाम तपःसंयमयोः इति शुद्धंज्ञात्वा ॥४२॥
दर्शनव्रतसामायिकप्रोषधप्रतिमा अब्रह्मसचित्तौ ।
आरम्भप्रेष्योद्दिष्टवर्जने श्रमणभूता च ॥४३॥

प्रतिमायें हैं।) ऊपर निर्दिष्ट भिक्षु और उपासक प्रतिमाओं का प्ररूपण करूँगा।।४०।।

(भिक्षुप्रतिमा और उपासकप्रतिमा का) सरलता से ज्ञान करने के लिए इस अधिकार (उपासक प्रतिमा) को गृही धर्म आख्यायित किया गया है। तप और संयम साधुओं के मोक्ष के करण-साधन हैं।।४१।।

यदि वे गृहस्थ भी (उपासक प्रतिमाओं) के पालन का प्रयत्न करते हैं तो निश्चयपूर्वक श्रमण को भी इसे भली प्रकार जानकर सर्वथा तप-संयम में प्रयत्न करना चाहिए।।४२।।

दर्शन, व्रत, सामायिक, पौषध, नियमप्रतिमा, अब्रह्मचर्यत्याग, सचित्तत्याग, आरम्भत्याग, प्रेष्यत्याग, उद्दिष्टत्याग और श्रमणभूत प्रतिमा (ये ग्यारह प्रतिमायें हैं)।।४३।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

।।७।। सप्तमभिक्षुप्रतिमाध्ययननिर्युक्तिः ।।

भिक्खूणं उवहाणे पगयं तत्थ व हवन्ति निक्खेवा।
तिन्नि य पुव्वुद्दिट्ठा पगयं पुण भिक्खुपडिमाए।।४४।।
समाहिओवहाणे य विवेकपडिमाइ य ।
पडिसंलीणा य तहा एगविहारे य पंचमीया।।४५।।
आयारे बायाला पडिमा सोलस य वन्निया ठाणे।
चत्तारि अ ववहारे मोए दो दो चंदपडिमाओ।।४६।।
एवं च सुयसमाधिपडिमा छावट्ठिया य पन्नत्ता।
समाईयमाईया चारित्तसमाहिपडिमाओ।।४७।।

भिक्षुणां उपधानं प्रकृतं तत्र च भवन्ति निक्षेपाः।
त्रयश्च पूर्वोद्दिष्टाः प्रकृतं पुनः भिक्षुप्रतिमाः ।।४४।।
समाध्युपधाने च विवेकप्रतिमा च।
प्रतिसंलीनता च तथा एकविहारश्च पञ्चमी ।।४५।।
आचारे द्विचत्वारिंशत् प्रतिमा षोडश च वर्णिताः स्थाने।
चतस्रश्च व्यवहारे मोचे द्वे द्वे चंदप्रतिमेश्च ।।४६।।
एवं च श्रुतसमाधिप्रतिमाः षट्षष्टिश्च प्रज्ञप्ताः ।
सामायिकादयः चारित्रसमाधिप्रतिमाः ।।४७।।

प्रस्तुत भिक्षु-प्रतिमा नामक अधिकार में भिक्षु के (नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार) निक्षेप होते हैं। (इनमें से नाम भिक्षु, स्थापना भिक्षु और द्रव्यभिक्षु ये तीन पहले ही (उपासक प्रतिमा में) कहे गये हैं। इस (भिक्षु प्रतिमा अधिकार) में भिक्षु प्रतिमाओं का कथन किया गया है।।४४।।

समाधि, उपधान, विवेक, प्रतिसंलीनता तथा पाँचवीं एकलविहार प्रतिमा है।।४५।।

आचाराङ्ग में ४२, स्थानाङ्ग में १६ प्रतिमायें वर्णित हैं, व्यवहारसूत्र में चार प्रतिमायें तथा प्रसवण-नियम (सम्बन्धी लघु एवं दीर्घ) दो प्रतिमायें हैं तथा दो चन्द्रप्रतिमायें (यवमध्या और वज्रमध्या) हैं।।४६।।

इसप्रकार श्रुतसमाधि प्रतिमा ६६ उपदिष्ट हैं। सामायिक आदि पाँच चारित्र सम्बन्धी प्रतिमायें हैं।।४७।।

भिक्खूणं उवहाणे उवासगाणं च वन्निया सुत्ते ।
गणकोवाइ विवेगो सब्भितरबाहिरो दुविहो ॥४८॥
सोइंदियमादीआ पदिसंलीणया चउत्थिया दुविहा ।
अट्ठगुणसमग्गस्स य एगविहारिस्स पंचमिया ॥४९॥
दढसम्मत्तचरित्ते मेधावि बहुस्सुए य अयले य ।
अरइरइसहे दविए खंता भयभेरवाणं च ॥५०॥
परिचिअकालामंतणखामणतवसंजमे अ संघयणे ।
भत्तो बहिनिक्खेवे आवन्ने लाभगमणे य ॥५१॥

॥९॥ पर्युषणाकल्पनिर्युक्तिः ॥

भिक्षूणामुपधाने उपासकानां च वर्णिताः सूत्रे ।
गणकोपादिः विवेकः साभ्यन्तरबाह्यो द्विविधः ॥४८॥
श्रोत्रेन्द्रियादयः प्रतिसंलीनता चातुर्थिका द्विविधा ।
अष्टगुणसमग्रस्य च एकलविहारिणः पञ्चमिका ॥४९॥
दृढसम्यक्त्वचारित्रयोः मेधावी बहुश्रुतश्चाचलश्च ।
अरतिरतिसहः द्रव्ये क्षमिता भयभैरवाणां च ॥५०॥
परिचितः कालामन्त्रणक्षमणतपसंयमे च संहनने ।
भक्तः बहिर्निक्षेपः आपन्ने च लाभगमने च ॥५१॥

सूत्र (ग्रन्थों—आगमों) में भिक्षुओं और श्रावकों के तप में (क्रमशः बारह और ग्यारह) प्रतिमायें वर्णित हैं। विवेक प्रतिमा अभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार की है— क्रोधादि (अभ्यन्तर विवेक प्रतिमा है) और गण (शरीर, भक्त-पान बाह्य विवेक प्रतिमा है)॥४८॥

चौथी प्रतिसंलीनता प्रतिमा (इन्द्रिय और नोइन्द्रिय) दो प्रकार की होती है। (इन्द्रिय प्रतिसंलीनता प्रतिमा) श्रोत्रेन्द्रिय आदि (पाँच प्रकार की) होती है। पाँचवीं एकलविहारी प्रतिमा (आचार सम्पदादि) आठ गुणों से युक्त भिक्षु की होती है॥४९॥

सम्यक्त्व और चारित्र में दृढ़ (निःशङ्कित), मेधावी, बहुश्रुत (दसपूर्वों का ज्ञाता) और अचल (अर्थात् ज्ञानादि में स्थिर चित्त) द्रव्य में अरति—प्रतिलोम उपसर्ग और रति—अनुलोम उपसर्ग, भय (अकस्मात् भय) और भैरव—सिंहादि के भय को सहने वाले होते हैं॥५०॥

श्रमण को अपने परिकर्मों, (प्रत्येक क्रिया के योग्य) समय, गण को आमन्त्रित कर क्षमापणा देने, अधिकारी और संहनन के अनुसार तप और संयम का निर्देश देने,

।।८।। पर्युषणाकल्पाध्ययननिर्युक्तिः।।

पज्जोसमणाए अक्खराइं होंति उ इमाइं गोण्णाइं ।
परियाययवत्थवणा पज्जोसमणाय पागइया ।।५२।।
परिवसणा पज्जुसणा पज्जोसमणा य वासवासो वा।
पढमसमोसरणं ति य ठवणा जट्ठोग्गहेगट्ठा ।।५३।।
ठवणाए निक्खेवो छक्को दव्वं च दव्वनिक्खेवो।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते (काले) कालो जहिं जो उ ।।५४।।

पर्युषणायाः अक्षराणि भवन्ति तु इमानि गौणानि।
पर्यायव्यवस्थापना पर्युपशमनाया प्रकटिता ।।५२।।
परिवसना, पर्युषणा, पर्युपशमना, च वर्षावासश्च ।
प्रथमसमवसरणमिति च स्थापना ज्येष्ठावग्रह एकार्थाः।।५३।।
स्थापनायाः निक्षेपः षट्कः द्रव्यं च द्रव्यनिक्षेपः ।
क्षेत्रं तु यस्मिन् क्षेत्रे काले कालो यस्मिन् यत्तु ।।५४।।

आहार, उपधि (आदि) निक्षेप करने, प्राप्त करने, प्राप्त करने योग्य आहार और (गण से) बहिर्गमन या उपाश्रयादि से प्रस्थान के विषय में सम्यक् रूप से परिचित होना चाहिए।।५१।।

पर्युपशमना ये अक्षरादि तो गुण-निष्पन्न होते हैं, श्रमणों की पर्यायव्यवस्थापना पर्युपशमना से व्यक्त होती है।।५२।।

परिवसना—चारमास तक एक स्थान पर रहना, पर्युषणा—किसी भी दिशा में परिभ्रमण नहीं करना, पर्युपशमना—कषायों से सर्वथा उपशान्त रहना, वर्षावास- वर्षाकाल में चार मास तक एक स्थान पर रहना, प्रथम समवसरण—नियत वर्षावास क्षेत्र में प्रथम आगमन, स्थापना—वर्षावास के क्रम में ऋतुबद्ध काल के अतिरिक्त काल की मर्यादा स्थापित करना और ज्येष्ठावग्रह—चार मास तक एक क्षेत्र का उत्तम आश्रय आदि— इनमें व्यञ्जनों का अन्तर है अर्थभेद नहीं है।।५३।।

(पर्युषणावाची उपरोक्त शब्दों में से स्थापना का निक्षेप-दृष्टि से कथन)— स्थापना निक्षेप छः प्रकार का होता है (द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, स्वामित्व एवं करण), द्रव्य-स्थापनानिक्षेप (अर्थात् पर्युषण करने वाले का द्रव्य शरीर और उसके द्वारा उपभोग योग्य एवं त्याज्य अचित-सचित्तादि) द्रव्य, क्षेत्र (स्थापना-निक्षेप), जिस क्षेत्र में स्थापना

ओदइयाईयाणं भावाणं जा जहिं भवे ठवणा।
भावेण जेण य पुणो, ठविज्जए भावठवणा उ ॥५५॥
सामित्ते करणम्मि य, अहिगरणे चेव होंति छब्भेया।
एगत्तपुहत्तेहिं, दव्वे खेत्तऽद्धभावे य ॥५६॥
कालो समयादीओ, पगयं समयम्मि तं परूवेस्सं।
निक्खमणे य पवेसे, पाउससरए य वोच्छामि ॥५७॥
उणाइरित्त मासे अट्ठ विहरिऊण गिम्हहेमंते।
एगाहं पंचाहं, मासं च जहा समाहीए ॥५८॥

औदयिकादिकानां भावानां या यत्र भवेत् स्थापना।
भावेन येन च पुनः स्थाप्यते भावस्थापना तु ॥५५॥
स्वामित्वे करणे चाधिकरणे चैव भवन्ति षड्भेदाः।
एकत्वपृथक्त्वैः द्रव्ये क्षेत्रकालभावे च ॥५६॥
कालः समयादिकः प्रकृतं समये तत्प्ररूपयिष्यामि।
निष्क्रमणे च प्रवेशे, पावृट्-शरदोः च वक्ष्यामि ॥५७॥
ऊनातिरिक्तमासे, अष्टसु विहृत्य ग्रीष्महेमन्तयोः।
एकाहं पञ्चाहं मासं च यथा समाख्यातम् ॥५८॥

(पर्युषणा की जाती है) और काल (स्थापना-निक्षेप) जिस काल में स्थापना की जाती है।।५४।।

औदयिक आदि भावों की जिस वस्तु में स्थापना की जाती है या पुनः जिस भाव से स्थापना की जाती है, वह भाव स्थापना-पर्युषणा है।।५५।।

एकत्व एवं पृथक्त्व के आधार पर द्रव्य के स्वामित्व, करण और अधिकरण की दृष्टि से छः भेद होते हैं, इसीप्रकार क्षेत्र, काल और भाव के भेदों के विषय में (कथन करना चाहिए)।।५६।।

प्रस्तुत समय अधिकार में उस काल अर्थात् समयादिक का निरूपण करूँगा, ऋतुबद्ध क्षेत्र से वर्षा ऋतु में निर्गमन और शरद ऋतु में प्रवेश— यह कहता हूँ।।५७।।

ग्रीष्म (के चार मास) और हेमन्त (शीतऋतु के चार मास) में अर्थात् आठ माह से कम या अधिक विहार करना चाहिए। यह विहार आठ महीने से एक दिन, पाँच दिन और मास पर्यन्त जिस प्रकार कम या अधिक होता है (उसे कहता हूँ)।।५८।।

काऊण मासकप्पं, तत्थेव उवागयाण ऊणा ते ।
चिक्खल वास रोहेण वा वि तेण ट्ठिया ऊणा ॥५९॥
वासाखेत्तालंभे, अद्धाणादीसु पत्तमहिगा तो ।
साहगवाघाएण व अपडिक्कमिउं जइ वयंति ॥६०॥
पडिमापडिवन्नाणं एगाहं पंच होंतऽहालंदे ।
जिणसुद्धाणं मासो निक्कारणओ य थेराणं ॥६१॥
ऊणाइरित्त मासा एवं थेराण अट्ठ णायव्वा ।
इयरे अट्ठ विहरिउं णियमा चत्तारि अच्छन्ति ॥६२॥

कृत्वा मासकल्पं तत्रैवोपागतानामूना ते ।
कर्दमवर्षारोधेन वापि तेन स्थिता न्यूनाः ॥५९॥
वर्षाक्षेत्रालब्धे अध्वादिषु प्राप्तमधिकाः तु ।
साधकव्याघातेन इव, अप्रतिक्रमितुं यदि वदन्ति ॥६०॥
प्रतिमाप्रतिपन्नानां एकाहः पञ्चहानि यथालन्दिनः ।
जिनशुद्धानां मासः निष्कारणतः च स्थविराणाम् ॥६१॥
ऊनातिरिक्तमासा एवं स्थविराणामष्ट ज्ञातव्याः ।
इतरे अष्ट विहर्तुं नियमेन चत्वारि आसते ॥६२॥

एक मास (आषाढ मास) का कल्प वास कर (वर्षावास योग्य स्थान न मिलने पर) उसी स्थान पर वर्षावास करना यह (आठ मास से) कम विहार है। कीचड़, बरसात अथवा नगरादि के घेरे के कारण भी वहीं वास करने से (आठ माह से) कम विहार है।।५९।।

चातुर्मास क्षेत्र प्राप्त न होने पर, मार्ग आदि में ही अधिक दिन प्राप्त (व्यतीत) होने पर एवं सिद्धि में बाधक (नक्षत्र) होने से यदि प्रतिक्रमण न करने का निर्देश हो तो आठ माह से अधिक विहार होता है।।६०।।

प्रतिमाधारी मुनि एक अहोरात्रि, यथालन्दिक मुनि पाँच अहोरात्रि, जिनकल्पी और स्थविरकल्पी साधु एक मास तक निष्कारण (सामान्य स्थिति में) एक क्षेत्र में रहें अर्थात् कारणवश उक्त अवधि घट-बढ़ सकती है।।६१।।

उक्तरीति से स्थविरकल्पिकयों का आठ माह से कम और अधिक विहार जानना चाहिए। इन (स्थविरकल्पियों) से भिन्न (प्रतिमाप्रतिपन्न, यथालन्दिक आठ महीने विहार कर नियमपूर्वक चार महीने वर्षावास करते है।।६२।।

आसाढपुण्णिमाए, वासावासंतु होति गतव्वं ।
मग्गसिरबहुलदसमीउ जाव एक्कम्मि खेत्तम्मि ॥६३॥
बाहिं ठित्तति वसभेहिं खेत्तं गाहेत्तु वासपाओग्गं ।
कप्पं कहेत्तु ठवणा सावणऽसुद्धस्स पंचाहे ॥६४॥
एत्थ तु अणभिग्गहिअं वीसतिरायं सवीसतीमासं ।
तेण परमभिग्गहिअं गिहिणातं कत्तिओ जाव ॥६५॥
असिवाइकारणेहिं अहवा वासं ण सुट्ठु आरद्धं ।
अहिवड्ढियम्मि वीसा इयरेसु सवीसई मासो ॥६६॥

आषाढपूर्णिमायाः वर्षावासे तु भवति गन्तव्यम् ।
मार्गशीर्षबहुलदशम्याः यावत् एकस्मिन् क्षेत्रे ॥६३॥
बहिः स्थितैः ऋषभैः क्षेत्रं गृहीत्वा वास प्रायोग्यम् ।
कल्पं कथ्येत स्थापना श्रावणाशुद्धस्य पञ्चमेहनि ॥६४॥
अत्र त्वनभिगृहीतं विंशतिरात्रं सविंशतिमासम् ।
तेन परमभिगृहीतं गृहिज्ञातं (गृहिणा तत्) कार्त्तिकं यावत्॥६५॥
अशिवादिःकारणैरथवा वर्षणं न सुष्ठ्वारब्धम् ।
अभिवर्द्धिते विंशतिः इतरेषु सविंशतिर्मासः ॥६६॥

आषाढ़पूर्णिमा तक वर्षावास के लिए चला जाना चाहिए और मार्गशीर्ष के कृष्णपक्ष की दशमी तिथि तक एक क्षेत्र में निवास करना चाहिए।।६३।।

(वर्षावास क्षेत्र से) बाहर (नियत स्थान पर) स्थित श्रेष्ठ साधुओं को वर्षावास योग्य क्षेत्र (स्थान) ग्रहण कर, कल्प (वर्षावास) की घोषणा कर श्रावण—कृष्ण पक्ष पञ्चमी से वर्षावास की स्थापना करनी चाहिए।।६४।।

(चातुर्मास हेतु नियत क्षेत्र के बाहर स्थित होने पर गृहस्थों द्वारा पूछे जाने पर कि आर्य यहाँ वर्षावास करेंगे साधु को अभी निश्चय नहीं किया है ऐसा उत्तर देना चाहिए), यदि अभिवर्द्धित वर्ष है तो आषाढ़ पूर्णिमा के पश्चात् बीस दिन तक और (यदि चन्द्रवर्ष है तो) पचास दिन तक इसके पश्चात् निश्चय कर लिया है, ग्रहण कर लिया है— कार्तिक मास पर्यन्त (ऐसा उत्तर देना चाहिए)।।६५।।

कदाचित् अकल्याणकारी कारणों (के उत्पन्न होने से साधु के विहार करने पर) अथवा अच्छी वर्षा प्रारम्भ न होने पर (साधु के वर्षावास की स्वीकृति से अच्छी वर्षा

एत्थ तु पणगं पणगं कारणियं जा सवीसतीमासो ।
सुद्धदसमीट्ठियाण व आसाढीपुण्णिमोसरणं ॥६७॥
इय सत्तरी जहण्णा असीति णउती दसुत्तरसयं च ।
जइ वासति मिग्गसिरे दसराया तिण्णि उक्कोसा ॥६८॥
काऊण मासकप्पं तत्थेव ठियाणऽतीए मग्गसीरे ।
सालम्बणाण छम्मासितो तु जट्ठोग्गहो होति ॥६९॥

अत्र तु पञ्चकं पञ्चकं कारणिकं या सविंशतिर्मासः।
शुद्धदशमीस्थितानां च आषाढीपूर्णिमापसरणम् ॥६७॥
इति सप्तति र्जघन्याऽशीतिर्नवतिदशोत्तरशतं च ।
यदि वर्षति मार्गशीर्षे दशरात्राणि त्रीणि उत्कृष्टाः ॥६८॥
कृत्वा मासकल्पं तत्रैव स्थितानांऽतीते मार्गशीर्षे ।
सालंबनानां षाण्मासिकस्तु ज्येष्ठावग्रहो भवति ॥६९॥

का अनुमान लगाकर तदनुसार कृषिकार्य में प्रवृत्त कृषकादि उसके प्रति कटु होंगे इस कारण गृहस्थ द्वारा वर्षावास के विषय में पूछने पर) अभिवर्द्धित संवत्सर में आषाढ पूर्णिमा से २० दिन और सामान्य संवत्सर में एक मास और बीस दिन अर्थात् ५० दिन तक (ऐसा अनिश्चयात्मक उत्तर देना चाहिए)।।६६।।

आषाढ पूर्णिमा को नियत स्थान पर प्रवेश कर (वहाँ रहते हुए वर्षावास योग्य क्षेत्र न मिलने की स्थिति में योग्य क्षेत्र प्राप्त करने हेतु) पाँच-पाँच दिन करके पचास दिन तक (योग्य क्षेत्र प्राप्त होने की) प्रतीक्षा करना चाहिए। इसके पश्चात् भाद्रपद शुक्ला दशमी को वहाँ से हट जाना चाहिए।।६७।।

इसप्रकार सत्तर दिन का वर्षावास जघन्य, अस्सी, नब्बे और एक सौ दस दिन, तथा यदि मार्गशीर्ष में (अनवरत) वर्षा हो तो तीन दसरात्रि (तीस दिन) तक (सामान्य चार मास के अतिरिक्त) और अधिकतम वर्षावास कर सकता है।।६८।।

जिस स्थान पर मासकल्प किया हो उसी स्थान पर वर्षावास करते हुए कारणपूर्वक मार्गशीर्ष भी व्यतीत हो जाने पर छः मास का ज्येष्ठावग्रह या वर्षावास होता है।।६९।।

जइ अत्थि पयविहारो चउपडिवयम्मि होइ गंतव्वं ।
अहवावि अणिंतस्सा आरोवणपुव्वनिद्दिट्ठा ॥७०॥
काईयभूमी संथारए य संसत्त दुल्लहे भिक्खे ।
एएहिं कारणेहिं अपत्ते होइ निग्गमणं ॥७१॥
राया सप्पे कुंथू अगणि गिलाणे य थंडिलस्सऽसति ।
एएहिं कारणेहिं अपत्ते होइ निग्गमणं ॥७२॥
वासं व न ओरमई पंथा वा दुग्गमा सचिक्खल्ला ।
एएहिं कारणेहिं अइक्कंते होइ निग्गमणं ॥७३॥

यद्यस्ति पदविहारो चतुःप्रतिपत्सु भवति गन्तव्यम् ।
अथवाऽपि अगच्छन्तः आरोपणा पूर्वनिर्दिष्टा ॥७०॥
कायिकभूमिः संस्तारकश्च संसक्तं दुर्लभाभिक्षा ।
एतैः कारणैः अप्राप्ते भवति निर्गमनम् ॥७१॥
राजा सर्पः कुन्थु अग्निः ग्लाने च स्थण्डिलस्यासति ।
एभिः कारणैः अप्राप्ते भवति निर्गमनम् ॥७२॥
वर्षा च न उपरमति पंथानो वा दुर्गमाः सकर्दमाः ।
एतैः कारणैः अतिक्रांते भवति निर्गमनम् ॥७३॥

यदि (वर्षावास कर रहे साधु को चातुर्मास के मध्य) सकारणपद विहार करना पड़े तो चार पर्वतिथियों को ही प्रस्थान करना चाहिए अथवा न जाने का भी (कुछ ने) पहले निर्देश किया है।।७०।।

जीवों से युक्त भूमि, संस्तारक भी जीवों से युक्त हो, भिक्षा दुर्लभ हो, इन कारणों से चातुर्मास पूर्ण न होने पर भी विहार करना चाहिए।।७१।।

राजा, सर्प, कुंथु (त्रीन्द्रिय जीव-विशेष), अग्नि से भय, रुग्ण होने और स्थण्डिल (उच्चार-प्रस्रवण के योग्य) भूमि न रहने— इन कारणों से चातुर्मास पूर्ण न होने पर भी विहार करना चाहिए।।७२।।

अथवा वर्षा न रुके, मार्ग दुर्गम और पङ्कयुक्त हो; इन कारणों से चातुर्मास व्यतीत होने के पश्चात् विहार करना चाहिए।।७३।।

असिवे ओमोयरिए राया दुट्ठे भए व गेलण्णे।
एएहिं कारणेहिं अइकंते होति निग्गमणं ॥७४॥
उभओवि अद्धजोयण सअद्धकोसं च तं हवति खेत्तं।
होइ सकोसं जोयण, मोत्तूण कारणज्जाए ॥७५॥
उड्ढमहे तिरियम्मि य, सकोसयं सव्वतो हवति खेत्तं।
इंदपयमाइएसुं छद्दिसि इयरेसु चउ पंच ॥७६॥
तिण्णि दुवे एक्का वा वाघाएणं दिसा हवइ खेत्तं।
उज्जाणाओ परेणं छिण्णमंडबं तु अखेत्तं ॥७७॥

अशिवेऽवमौदर्ये राजद्विष्टे भये ग्लानत्वे वा।
एतैः कारणैः अतिक्रान्ते भवति निर्गमनम् ॥७४॥
उभयतोऽपि अर्द्धयोजनं सार्द्धक्रोशं च तद् भवति क्षेत्रम्।
भवति सक्रोशं योजनं, मुक्त्वा कारणतया ॥७५॥
ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् च, सक्रोशं सर्वतो भवति क्षेत्रम्।
इन्द्रपदमादिकेषु षड्दिक्षु इतरेसु चत्वारिपञ्च ॥७६॥
त्रिस्त्रः द्वे एका वा व्याघातेन दिशा भवति क्षेत्रम्।
उद्यानात् परेण छिन्नमण्डपं तु अक्षेत्रम् ॥७७॥

अमङ्गल होने पर, अवमौदर्य व्रत धारण करने पर, राजा के दुष्ट (होने) पर, भय (उपस्थित होने) पर तथा रोग होने पर—इन कारणों से चातुर्मास व्यतीत हो जाने के बाद विहार होता है।।७४।। [illegible] इन कारणो से चातुर्मास व्यतीत होजाने के कुछकाल बाद भी विहार होता है

चारों तरफ ढाई कोस (की निर्धारित सीमा तक क्षेत्र होता है, आगमन और प्रत्यागमन के संयोग से) पाँच कोस क्षेत्र होता है। कारण होने पर क्षेत्र की मर्यादा से मुक्त होकर भी गमन हो सकता है।।७५।।

ऊपर-नीचे और तिरछे एक कोस तक चारों ओर क्षेत्र होता है। (पर्वत पर ऊपर और नीचे भी ग्राम होता है अतः पर्वत पर मध्य स्थित ग्राम की दृष्टि से) छः दिशायें होती हैं। अन्य स्थितियों में क्षेत्र के चार, पाँच, तीन, दो अथवा एक दिशा व्याघात से होती है। उपवन आदि के परे जिन ग्रामों और नगरों के सभी दिशाओं में ग्राम और नगर नहीं होते है ये छिन्नमण्डप अक्षेत्र होते है।।७६-७७।।

दगघट्ट तिन्नि सत्त व उदुवासासु ण हणंति तं खेत्तं।
चउरद्धाति हणंती जंघद्धे कोवि उ परेणं ॥७८॥
दव्वट्ठवणाऽऽहारे१ विगई२ संथार३ मत्तए४ लोए५।
सच्चिते ६ अचित्ते ७ वोसिरणं गहण-धरणाइं ॥७९॥
पुव्वाहारोसवण जोग विवड्ढीय सत्तिउग्गहणं।
संचइय असंचइए दव्वविवड्ढी पसत्था उ ॥८०॥
विगतिं विगतीभीओ विगइगयं जो उ भुंजए भिक्खू।
विगई विगयसभावं विगती विगतिं बला नेइ ॥८१॥

दकघट्ट त्रीणिसप्त च ऋतुवासेषु न घ्नन्ति तत्क्षेत्रम्।
चतुरष्ट इति घन्ति जङ्घार्द्धं कोऽपि तु परेण ॥७८॥
द्रव्यस्थापनाऽऽहारे विकृतिः संस्तारकमात्रकलोचाः।
सचित्ते अचित्ते व्युत्सर्जनं ग्रहण धारणानि ॥७९॥
पूर्वाहारोपशमनं योगविवर्द्धितशक्तितः ग्रहणम् ।
सञ्चियते असञ्चिते द्रव्यविवृद्धिः प्रशस्ताः तु ॥८०॥
विकृतिंविकृतिभीतः(विगतिभीतः)विकृतिगतंयत्तु भुङ्क्ते भिक्षुः।
विकृतिः विकृतस्वभावं विकृति विकृतिं बलान्नयति॥८१॥

जहाँ जङ्घे की आधी ऊँचाई तक जल हो वहाँ ऋतुकाल में तीन बार (आना-जाना ६ बार) और वर्षाकाल में ७ बार (आना-जाना १४ बार) गमन से क्षेत्र का उपघात नहीं होता है। (जबकि ऋतुकाल में) ४ बार (आना-जाना ८ बार) और (वर्षाकाल में) आठ बार (आना-जाना १६ बार) गमन से क्षेत्र का उपघात होता है। जहाँ जाँघ से ऊपर जल है वहाँ (ऋतुकाल और वर्षाकाल में) एक बार भी गमन से कोई क्षेत्रमर्यादा का अतिक्रमण करता है।।७८।।

द्रव्यस्थापना में आहार, विकृति, संस्तारक, मात्रक, लोच, सचित्त और अचित्त का परित्याग, ग्रहण, धारण आदि आते हैं।।७९।।

पूर्व अर्थात् ऋतुकाल—शीत और ग्रीष्म काल—में ग्रहण किये गये आहार का यथाशक्ति सामर्थ्य बढ़ाकर त्याग करना चाहिए, (विकृति स्थापना—सञ्चयिक और असञ्चयिक दो प्रकार की है, प्रशस्त कारणों से गृहीत द्रव्य विवृद्धिकृत है।।८०।।

विविधगति (संसार) से भयभीत या विगति अर्थात् कुगति से भयभीत जो श्रमण विकृति (विकार) जनित वस्तु और विकृति को प्राप्त भोजन-पान आदि ग्रहण करता

मार्गदर्शक आचार्य श्री सुविधिसागर जी महा

पसत्थ विगईगहणं गरहियविगतिग्गहो य कज्जम्मि।
गरहा लाभपमाणे पच्चय पायप्पडीघाओ॥८२॥
कारणओ उडुगहिते उज्झिऊण गेण्हंति अण्णपरिसाडी।
दाउं गुरुस्स तिण्णि उ सेसा गेण्हंति एक्केक्कं॥८३॥
उच्चार-पासवण-खेलमत्तए तिण्णि तिण्हि गेण्हंति।
संजय-आएसट्ठा भुंजेज्जऽवसेस उज्झंति॥८४॥

प्रशस्तविकृतिग्रहणं गर्हितविकृतिग्रहश्च कार्ये।
गर्हा लाभप्रमाणे प्रत्ययः पापप्रतिघातः॥८२॥
कारणतः ऋतुगृहीते उज्झित्वा गृह्णन्ति अन्यपरिशाटीः।
दातुं गुरोः तिस्रः शेषाः गृह्णन्ति एकैकम्॥८३॥
उच्चारप्रस्रवणश्लेष्ममात्रकः त्रीणि त्रीणि गृह्णन्ति।
संयतादिष्टाः भुञ्जीरन् अवशेषमुज्झन्ति॥८४॥

है उसे विकार स्वभाव वाली विकृति बलपूर्वक विकृति (असंयम या दुर्गति) की ओर ले जाती है।

प्रशस्तविकृति ग्रहण और अप्रशस्त विकृति ग्रहण, कार्य या प्रयोजन वश करना चाहिए। अप्रशस्त विकृति के ग्रहण की मात्रा का निश्चय (जितने प्रमाण में बाल, वृद्ध या ग्लान के लिए आवश्यक हो) उससे करना चाहिए। कारणपूर्ण होने पर अप्रशस्त पाप की आलोचना करनी चाहिए।।८२।।

कारणवश ऋतुकाल (शीत एवं ग्रीष्म काल) में ग्रहण किये गये संस्तारक को त्यागकर अन्य को ग्रहण करते हैं, दूसरे साधुओं को प्रदान करने के लिए गुरु तीन धारण करते हैं जबकि शेष एक-एक ग्रहण करते हैं।।८३।।

प्रत्येक साधु मलोत्सर्ग, मूत्रोत्सर्ग और श्लेष्म के निमित्त तीन-तीन पात्र ग्रहण करते हैं। साधु (आचार्य की) आज्ञा होने पर (आहार) ग्रहण करें, (वे) बचे हुए आहार का त्याग करते हैं।।८४।।

धुवलोओ उ जिणाणं णिच्चं थेराण वासवासासु।
असहू गिलाणस्स व, णातिक्कामेज्ज तं रयणि॥८५॥
मोत्तु पुराण-भावियसड्ढे संविग्ग सेस पडिसेहो।
मा निद्दओ भविस्सइ भोयणमोए य उड्डाहो॥८६॥
इरिएसण भासाणं मण वयसा काइए य दुच्चिरिए।
अहिगरणकसायाणं संवच्छरिए विओसवणं॥८७॥
कामं तु सव्वकालं पंचसु समितीसु होइ उज्जयव्वं
वासासु अहीगारो बहुपाणा मेइणी जेणं॥८८॥

ध्रुवलोचस्तु जिनानां नित्यं स्थविराणां वर्षावासेषु ।
असहग्लानस्य च, नातिक्रामयेत् तां रजनीम् ॥८५॥
मुक्त्वा पुराणभावितश्रद्धौ संविग्नं शेषप्रतिषेधः ।
मा निर्दयो भविष्यति भोजनमोचश्च उद्दाहः॥८६॥
ईर्यैषणा भाषाणां मनसा वाचा कायेन च दुश्चरिते ।
अधिकरणकषायाणां सांवत्सरिके व्यवशमनम् ॥८७॥
कामंतु सर्वकालं पञ्चसु समितिषु भवति यतितव्यम्।
वर्षासु अधिकारः बहुप्राणा मेदिनी येन ॥८८॥

वर्षावास में जिनकल्पी साधुओं को नियमित लोच करना चाहिए, स्थविर- कल्पियों को चातुर्मास में एक बार लोच करना चाहिए। असमर्थ एवं ग्लान के लोच के लिए पर्युषणा की अन्तिम रात्रि का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।।८५।।

पुराने शिष्य (जिसको पूर्व में दीक्षा दी जा चुकी हो), श्रद्धायुक्त अन्तःकरण वाले श्रावक एवं मुमुक्षु को छोड़कर अन्य को चातुर्मास में (दीक्षा देने का) निषेध है। (वर्षाकाल में दीक्षा से) वह निर्दय न हो जाय तथा भोजनत्याग से श्रमणधर्म के प्रति दुःखाग्नि न दीप्त हो।।८६।।

ईर्या, एषणा, भाषा (आदान-निक्षेप, प्रतिस्थापना इन पाँच समितियों) का मन, वचन और शरीर से पालन करना चाहिए। कुत्सित आचरण, पापकर्म और कषायों को संवत्सरी में उपशान्त करना चाहिए।।८७।।

सभी श्रमणों को पाँच समितियों का सर्वदा यत्नपूर्वक आचरण करना चाहिए, पृथ्वी वर्षाऋतु में बहुत प्राणों की सत्ता वाली हो जाती है (इसलिए वर्षाऋतु में श्रमण को अत्यधिक यत्नपूर्वक संयम-पालन करना चाहिए)।।८८।।

भासणे संपाइमवहो दुण्णेओ नेहछेओ तइयाए ।
इरियचरियासु दोसुवि अपेहअपमज्जणे पाणा ॥८९।
मणवयणकायगुत्तो दुच्चरियाइं तु खिप्पमालोए ।
अहिगरणम्मि दुरूयग पज्जोए चेव दमए य ॥९०॥
एगबइल्ला भंडी पासह तुब्भे य डज्झ खलहाणे ।
हरणे झामणजत्ता, भाणगमल्लेण घोषणया ॥९१॥
अप्पिणह तं बइल्लं दुरुतग्ग! तस्स कुंभयारस्स ।
मा भे डहीहि गाम अन्नाणि वि सत्त वासाणि ॥९२॥

भाषणे संपातिमवधो दुर्ज्ञेयः स्नेहछेदस्तृतीये ।
ईर्याचर्यासु द्वयोरपि अप्रेक्ष्याप्रमार्जने प्राणाः ॥८९॥
मनवचनकायगुप्तः दुश्चरितानि तु क्षिप्रमालोचयेत् ।
अधिकरणे द्विरुक्तकः प्रद्योतश्च द्रमकश्च ॥९०॥
एकबलीवर्दा शकटिकां पश्य, यूयमपि दह्यमानखलधान्यम्।
हरणे दहनं भाणकमल्लेन घोषणया ॥९१॥
अर्पय तं बलीवर्दं, द्विरुक्तक! तस्मै कुम्भकाराय ।
मा भोः! दह ग्रामम्, अन्यान्यपि सप्तवर्षाणि ॥९२॥

भाषण समिति से (युक्त न होने पर) उड़ने वाले दुर्ज्ञेय (जीवाणुओं) का वध, तृतीय (एषणा समिति से युक्त न होने पर) दुर्ज्ञेय अप्काय जीवों का वध, ईर्या समिति और अन्तिम दो (आदान-निक्षेप और परिस्थापना समिति से युक्त न होने पर) बिना देखे, प्रमार्जित किये आचरण करने पर जीवों का वध होता है।।८९।।

जो कुत्सित आचरण हैं उनकी शीघ्र आलोचना मन, वचन और काय गुप्ति से करनी चाहिए, पापजनक क्रिया या असंयमित आचरण में द्विरुक्तक, राजाप्रद्योत और द्रमक का दृष्टान्त (दिया जाता है)।।९०।।

(द्विरुक्तक का कथन) देखो! एक बैलवाली गाड़ी, (कुम्भकार का प्रत्युत्तर) तुम लोग भी जल रहे खलिहान (को देखो) (बैल) हरने पर प्रयत्न से (खलिहान) जला दिया, (ग्रामवासियों ने) उद्घोषक से घोषणा करवायी, हे द्विरुक्तक! उस कुम्भकार को बैल दे दो, (हे कुम्भकार) सात वर्ष तक हमारे ग्राम (के खलिहान) को जलाने के बाद पुनः मत जलाना।।९१-९२।।

चंपाकुमारनंदी पचऽच्छर थेरनयण दुमऽवलए ।
विह पासणया सावग इंगिणि उववाय णंदिसरं ॥९३॥
बोहण पडिमा उदयण पभावउप्पाय देवदत्ताते ।
मरणुयवाए तायस, णयणं तह भीसणा समणा ॥९४॥
गंधार गिरी देवय, पडिमा गुलिया गिलाण पडियरेण।
पज्जोयहरण दोक्खर रण गहणा मेऽज्ज ओसवणा॥९५॥
दासो दासीवतितो छत्तट्ठिय जो घरे य वत्थव्वो ।
आणं कोवेमाणो हंतव्वो बंधियव्वो य ॥९६॥

चम्पाकुमारनन्दी, पञ्चाप्सरःस्थविरनयनद्रुमवलये।
विहगपाशनयः श्रावकः, इङ्गिनी उपपातः नन्दीश्वरे॥९३॥
बोधनं प्रतिमा उदयनः प्रभावः उत्पातो देवदत्तात्।
मरणोपपातः तापसः नयनं तथा भीषणाः श्रमणाः ॥९४॥
गन्धारगिरिः दैवतं प्रतिमा गुलिका ग्लानप्रतिचरेण ।
प्रद्योतहरणं दुष्कररणगहना मेऽद्य उत्सवाः ॥९५॥
दासो दासीपतितः छत्रस्थितः यः गृहे च वास्तव्यः ।
आनयनं कोपमानः हन्तव्यः बन्धितव्यश्च ॥९६॥

चम्पा (नगरी में स्वर्णकार) कुमारनन्दी, पञ्चशैलद्वीप पर स्थविर द्वारा ले जाना, वटवृक्ष पर बसेरा, भारण्ड पक्षी के पैरों से स्वयं को बांधकर पञ्चशैल पहुँचना, श्रावक नागिल (द्वारा मना करना), इङ्गिनीमरण (द्वारा शरीर-त्याग) (पञ्चशैल पर विद्युन्माली यक्ष रूप में) उत्पन्न, (पटह गले में बाँधकर बजाता हुआ) नन्दीश्वर गमन, (श्रावक नागिल द्वारा) बोध पाकर महावीर प्रतिमा निर्मित कराकर उपासना, राजा उदायन (के पास देवाधिदेव की प्रतिमा कराने का निवेदन), रानी प्रभावती के प्रहार से दासी देवदत्ता का वध, (प्रायश्चित्तवश) मरण के पश्चात् देवलोक में उत्पन्न, तपस्वी वेश में (राजा उदायन को उद्बोधन), अलौकिक फल के बहाने) भयङ्कर (जिनेतर साधुओं के पास ले जाना), जैन श्रमण द्वारा उद्बोधन, गान्धार (जनपद से मुमुक्षु श्रावक का वैताढ्यगिरि (गमन एवं उपवास), देवता द्वारा (सन्तुष्ट हो स्वर्ण प्रतिमा और गुलिकायें देना, (महावीर प्रतिमा की वन्दना हेतु आना), ग्लान—अस्वस्थ हो जाने पर (दासी द्वारा) परिचर्या (से प्रसन्न श्रावक द्वारा प्रदत्त गुटिका से दासी का रूपवती बनना व राजा प्रद्योत की कामना),

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

खद्धाऽऽदाणियगेहे पायस दट्ठुण चेडरूवाइं ।
पियरो भासण खीरे जाइय लद्धे य तेणा उ ॥९७॥
पायसहरणं छेत्ता पच्चागय दमग असियए सीसं ।
भाउय सेणावति खिंसणा य सरणागतो जत्थ ॥९८॥
वाओदएण राई णासइ कालेण सिगय पुढवीणं ।
णासइ उदगस्स सती, पव्वयराती उ जा सेलो ॥९९॥

ऋद्ध्यादानिकस्य गृहे, पायसं दृष्ट्वा चेटरूपाणि ।
पितरं भाषणं क्षीरं, याचितः रद्धश्च तेन तु ॥९७॥
पायसहरणं छित्वा प्रत्यागत द्रमकः असिना शीर्षम् ।
भ्राता सेनापतिः खिंसना च शरणागतो यत्र ॥९८॥
वातोदकैः राजिः नश्यति कालेन सिकतापृथ्वीनाम् ।
नश्यति उदके सति, पर्वतराजिः तु यावत् शैलः ॥९९॥

प्रद्योत द्वारा (प्रतिमा सहित दासी) हरण, (उदायन और प्रद्योत के मध्य) भयङ्कर युद्ध, (पराजित प्रद्योत को बन्दी बनाना, पर्युषणा के दिन बन्दी राजा प्रद्योत द्वारा कहना) 'आज मेरा उपवास है', (बन्दी बनाते समय उसके मस्तक पर अङ्कित) दासी पति के स्थान पर सुवर्णपट्ट बाँध देने से) पट्टबद्ध राजा हो गया, जिस प्रकार घर पर उपस्थित को क्षमा कर देता है, उसी प्रकार क्रोधित होकर हनन और बन्धन नहीं करना चाहिए।।९३-९६।।

समृद्ध व्यक्ति के घर में क्षीरान्न देखकर नौकर रूप द्रमक के पुत्र द्वारा, पिता से क्षीरान्न खाने के लिए कहना, माँगने पर उस (पिता के द्वारा) प्राप्त किया गया। चोरों द्वारा क्षीरान्न हरण, (तृण-पूल आदि काटकर) वापस लौटा हुआ द्रमक (चोरों के सेनापति का) सिर काट लेता है। (सेनापति का) भाई सेनापति नियुक्त किया गया, (सेनापति की मृत्यु का प्रतिशोध न लेने पर आत्मीय जनों का) कुपित होना, (सेनापति द्वारा द्रमक को बाँधना, उससे पूछने पर कि उसे किस प्रकार मारा जाय द्रमक कहता है) जिस प्रकार शरणागत को (मारा जाता है)।।९७-९८।।

बालू में (खींची गई) लकीर हवा और जल से नष्ट हो जाती है, पृथ्वी में (शरद् ऋतु में) पड़ी हुई दरार वर्षा होने पर नष्ट हो जाती है, परन्तु पर्वत में पड़ी हुई दरार शैल (की स्थिति) पर्यन्त बनी रहती है।।९९।।

उदय सरिच्छा पक्खेणऽवेति चउमासिएण सिगयसमा।
वरिसेण पुढविराई आमरणगतीउ पडिलोमा ॥१००॥
सेलट्ठि थंभ दारुय लया य वंसी य मिंढगोमुत्तं।
अवलेहणीया किमिराग कद्दम कुसुंभय हलिद्दा ॥१०१॥
एमेव थंभकेयण, वत्थेसु परूवणा गईओ य।
मरुयऽच्चंकारिय पंडरज्ज मंगू य आहरणा ॥१०२॥

उदकसदृक्षः पक्षेणापैति चातुर्मासिकेन सिकतासमा।
वर्षेण पृथ्वीराजिः आमरण गतयस्तु प्रतिलोमाः ॥१००॥
शैलोऽस्थि स्तम्भः दारुक लता च वंशश्च मेंढगोमूत्रम् ॥१०१॥
एवमेव स्तम्भकेतनेन व्यस्तेषु प्ररूपणा गतयश्च।
मरुत् अत्यहङ्कारिता पाण्डुरार्या मङ्कु च आहरणाः ॥१०२॥

जो क्रोध जल में खींची रेखा सदृश एक पक्ष में नष्ट हो जाता है, बालू में (खींची रेखा) सदृश चार मास में उपशान्त हो जाता है, पृथ्वी में पड़ी दरार के समान एक वर्ष में समाप्त हो जाता है। (जिसप्रकार पर्वत में पड़ी रेखा कभी नहीं मिटती उसीप्रकार जीवन पर्यन्त यह क्रोध नहीं) शान्त होता है। गति की दृष्टि से इनका सङ्क्रमण प्रतिलोम अर्थात् विपर्यय क्रम से होना चाहिए। (कषाय प्रथम--गतिचतुर्थ, संज्वलन कषायी-देवगति, प्रत्याख्यानकषायी-मनुष्य गति, अप्रत्याख्यानकषायी-तिर्यञ्चगति और अनन्तानुबन्धी कषायी-नरकगति को प्राप्त होता है।।१००।।

मान पर्वत स्तम्भ, अस्थिस्तम्भ, काष्ठस्तम्भ और लता समान होता है। माया कषाय जैसे बाँस की जड़ (जिसका टेढ़ापन दूर होना अतिदुष्कर) भेड़े की सींग-दुष्कर गोमूत्र-सरल और बाँस का छिलका अतिसरल है। लोभकषाय जैसे कृमिराग सदृश लोभ (दूर होना असम्भव), कर्दमराग सदृश लोभ (दूर होना दुष्कर) पुष्पराग सदृश लोभ (दूर होना सरल) जैसे हल्दी का रङ्ग दूर होना (अति सरल)।।१०१।।

इसीप्रकार स्तम्भ, वक्रता और वस्त्रों में गतियों की प्ररूपणा की गई है और कषायों के निरूपण में मरुत्, अत्यहङ्कारिणी भट्टा, पाण्डुरार्या और मङ्कु का दृष्टान्त दिया गया है।।१०२।।

अवहंत गोण मरुए चउण्ह वप्पा उक्करो उवरिं ।
छोढुं मए सुवट्ठाऽतिकोवे णो देमो पच्छित्तं ॥१०३॥
वणिधूयाऽच्चंकारिय भट्टा अट्ठसुयमग्गओ जाया ।
वरग पडिसेह सचिवे, अणुयत्तीह पयाणं च ॥१०४॥
णिवचिंत विगालपडिच्छणा य दारं न देमि निवकहणा।
खिंसा णिसि निग्गमणं चोरा सेणावई गहणं ॥१०५॥
नेच्छइ जलूगवेज्जगगहण तम्मि य अणिच्छमाणम्मि।
गाहावइ जलूगा धणभाउग कहण मोयणया ॥१०६॥

अवधीत् गां मरुत् चतुष्कवप्राणां उत्करः उपरि ।
सोढुं मया सुस्पृष्टाऽतिकोपे न ददामि प्रायश्चित्तम् ॥१०३॥
वणिग्दुहिताऽत्यहङ्कारिता भट्टा अष्टसुताग्रतः जाता ।
वरकप्रतिषेधः सचिवे अनुवृत्तिभिः प्रदानं च ॥१०४॥
नृपचिन्ता विकालप्रतीक्षणं च द्वारं न ददामि नृपकथनात् ।
खिंसा (निन्दा) निशि निर्गमनं चौराः सेनापतिः ग्रहणम् ॥१०५॥
नेच्छति जलौका वैद्यकग्रहणं तस्मिन् च अनिच्छन्ती ।
ग्राहयति जलौका धनभ्रातृकः कथनं मोचनम् ॥१०६॥

मरुत् ने बैल का वध किया, चार खेतों की मिट्टी के ढेर से मारने पर वह मर गया, उसके मर जाने पर भी वह अत्यधिक क्रोध में स्थित रहा, (प्रायश्चित्त माँगने पर) प्रायश्चित्त नहीं देंगे— (ऐसा कहा गया)।।१०३।।

आठ पुत्रों के पश्चात् उत्पन्न हुई अत्यहङ्कारिणी वणिक्पुत्री भट्टा के वरों को (उद्दण्डता करने पर भी भर्त्सना न करने वाले को देने की इच्छा वाले पिता द्वारा) अस्वीकार कर दिया गया। अमात्य द्वारा (शर्त) स्वीकार करने पर भट्टा प्रदत्त, राज्यकार्य के कारण (अमात्य का) कुसमय घर लौटना, भट्टा द्वारा प्रतीक्षा, (भट्टा के द्वार खोलने से मना करने पर समय से आना), राजाज्ञा से अमात्य के लौटने में विलम्ब, (द्वार न खोलने पर सचिव द्वारा भर्त्सना), रुष्ट भट्टा का रात्रि में ही घर से निकल जाना, चोरों द्वारा चोर सेनापति (के पास ले जाना), सेनापति द्वारा पत्नी बनाने की इच्छा, भट्टा का न चाहना, सेनापति द्वारा जलूक वैद्य को विक्रय, उसको भी न चाहना, (जलूक वैद्य जलूकों को) पकड़वाता था। धन देकर भट्टा के भाई द्वारा उसे मुक्त किया गया। उसके घर में

सयगुणसहस्स पागं, वणभेसज्जं वतीसु जायणता।
तिक्खुत्त दासीभिंदण ण य कोव सयं पदाणं च॥१०७॥
पासत्थि पंडरज्जा परिण्ण गुरुमूल णाय अभिओगा।
पुच्छति य पडिक्कमणे, पुव्वब्भासा चउत्थम्मि॥१०८॥
अपडिक्कम सोहम्मे अभिओगो देवि सक्कतोसरणं।
हत्थिणि वायणिसग्गो गोतमपुच्छा य वागरणं॥१०९॥

शतगुणसहस्रपाकं व्रणभैषज्यं यतये याचना।
त्रिः दासिभेदनं न च कोपः स्वयं प्रदानं च॥१०७॥
पार्श्वस्था पाण्डुरार्या परिज्ञाय गुरुमूलं ज्ञाताभियोगा।
पृच्छति च प्रतिक्रमणे पूर्वाभ्यासा चतुर्थ्याम्॥१०८॥
अप्रतिक्रमः सौधर्मे अभियोगा देवी शक्रावसरणम्।
हस्तिनी वातनिसर्गो गौतमपृच्छा च व्याकरणम्॥१०९॥

सैकड़ों प्रकार के भैषज तेल थे, साधु द्वारा माँगे जाने पर (दासी को आदेश), दासी द्वारा तीन बार पात्र तोड़ देने पर भी उसका कुपित न होना, बल्कि स्वयं प्रदान करना॥१०४-१०७॥

शिथिलाचारिणी पाण्डुरार्या (सदा श्वेतवस्त्रधारिणी होने से प्रदत्त नाम) को उसके माँगने पर गुरु द्वारा भक्त प्रत्याख्यान दिया गया। (विद्यामन्त्र के बल से पाण्डुरार्या के आह्वान करने से लोगों के आने पर) गुरु द्वारा प्रतिक्रमण के समय तीन बार कारण पूछने पर आह्वान की बात स्वीकार करती है, परन्तु चौथी बार पूछने पर कहती है कि पहले के अभ्यास के कारण आते हैं। प्रतिक्रमण न करने के कारण समय आने पर पाण्डुरार्या सौधर्मकल्प में ऐरावत की अग्रमहिषी हुई। समवसरण में भगवान् के आगे स्थित होकर उसके उच्च स्वर करने पर, गौतम द्वारा पूछने पर (भगवान् महावीर द्वारा इस कथा का) व्याख्यान किया जाता है॥१०८-१०९॥

महुरा मंगू आगम बहुसुय वेरग्ग सड्ढपूयाय ।
सातादिलोभ णितिए, मरणे जीहा य णिद्धमणे ॥११०॥
अब्भुवगत गतवेरे, णाउ गिहिणो वि मा हु अहिगरणं।
कुज्जा हु कसाए वा अविगडितफलं च सिं सोउं ॥१११॥
पच्छित्ते बहुपाणो कालो बलितो चिरं तु ठायव्वं ।
सज्झाय संजमतवे धणियं अप्पा णियोएयव्वो ॥११२॥

मथुरा मङ्गुः आगमबहुश्रुतः वैराग्यं श्राद्धपूजायै।
सातादिलोभः नीत्या, मरणे जिह्वा च निर्धमने ॥११०॥
अभ्युपगतः गतवैरः, ज्ञातुं गृही अपि मा खलु अधिकरणम्।
कुर्यात् खलु कषाये वा अविगणितफलं चसंश्रोतुम् ॥१११॥
प्रायश्चित्तो बहुप्राणः कालः बलितः चिरं तु स्थातव्यम् ।
स्वाध्यायसंयमतपांसि घनितम् आत्मा नियोजयितव्यम्॥११२॥

आर्यमङ्गु (विहार करते हुए) मथुरा गये, आगम बहुश्रुत एवं वैराग्ययुक्त होने से लोग श्रद्धा से पूजा करते थे, सातादि लोभ के कारण (वे विहार नहीं करते थे), नियमतः (शेष साधु विहार किये), श्रमणाचार की विराधना के कारण वे मरकर (व्यन्तर हुए, साधुओं के उस प्रदेश से निर्गमन करने पर यक्ष प्रतिमा में प्रविष्ट होकर) जिह्वादि निकालकर (अपने यक्ष होने का वृत्तान्त बताकर लोभ कषाय न करने का उपदेश देते थे)।।११०।।

कषाय-दोषों को जानकर, वैर त्यागकर, गृहस्थों के प्रति भी अधिकरण नहीं करना चाहिए अथवा कषायों के परिणाम का विचार किये बिना कषाय भी नहीं करना चाहिए।।१११।।

(ऋतुबद्धकाल के आठ महीनों में प्रायश्चित्त न कर पाने के कारण सञ्चित) प्रायश्चित्त के लिए, वर्षा ऋतु में पृथ्वी के बहुप्राणों वाली होने के कारण तथा प्रायश्चित्त ग्रहण करने की दृष्टि से अनुकूल काल होने के कारण, (एक स्थान पर) दीर्घकाल तक वास करना चाहिए। आत्मा को सद्ध्यान, संयम और तप में भलीभाँति योजित करना चाहिए।।११२।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पुरिमचरिमाण कप्पो मंगल्लं वद्धमाणतित्थंमि ।
इह परिकहिया जिण-गणहराइथेरावलि चरित्तं ॥११३॥
सुत्ते जहा निबद्धं वग्घारिय भत्त-पाण अग्गहणे ।
णाणट्ठी तवस्सी अणहियासि वग्घारिए गहणं ॥११४॥
संजमखेत्तचुयाणं णाणट्ठि-तवस्सि-अणहियासाणं।
आसज्ज भिक्खकालं, उत्तरकरणेण जतियव्वं ॥११५॥
उण्णियवासाकप्पो लाउयपायं च लब्भए जत्थ ।
सज्झाएसणसोही वरिसति काले य तं खित्तं ॥११६॥

पूर्वचरमयोः कल्पः माङ्गल्यं वर्धमानतीर्थे ।
इह परिकथिता जिनगणधरास्थविरावलिः चारित्रम् ॥११३॥
सूत्रे यथानिबद्धं प्रलम्बितभक्तपानऽग्रहणे ।
ज्ञानार्थी तपस्वी अनध्यासी प्रलम्बिते ग्रहणंम् ॥११४॥
संयमक्षेत्रच्युतानां ज्ञानार्थि-तपस्वि-अनध्यासिनाम् ।
आसाद्य भिक्षाकालं उत्तरकरणेन यतितव्यम् ॥११५॥
और्णिकं वर्षाकल्पं अलाबूपात्रं च लभ्यते यत्र ।
स्वाध्यायैषणशुद्धिः वर्षति काले च तत् क्षेत्रम् ॥११६॥

प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्कर के समय में कल्प अर्थात् वर्षावास अवश्य होता है, (मध्य के तीर्थङ्करों के समय वर्षावास विकल्प से होता है), कल्याण के लिए वर्धमान तीर्थ में जिनों का चरित्र और गणधरों की स्थविरावली वर्णित है।।११३।।

जिस प्रकार कल्पसूत्र में अनवरत वर्षा होने पर भक्त-पान का अग्रहण वर्णित है, ज्ञानार्थी, तपस्वी और (भूख सहन करने में) असमर्थ को (अनवरत वर्षा में) भिक्षा ग्रहण का कथन है।।११४।।

संयम क्षेत्र का त्याग किये हुए, ज्ञानार्थी, तपस्वी और (भूख को) सहन न कर सकने वाले साधु को (निरन्तर वर्षा होते रहने पर) भिक्षाकाल आने पर हाथ से ढककर भिक्षा माँगनी चाहिए।।११५।।

जहाँ वर्षावास के योग्य ऊनी वस्त्र, तुम्बीपात्र प्राप्त होता है, स्वाध्याय एषणा शुद्ध होती है और समय से वर्षा होती है, वह संयम क्षेत्र होता है।।११६।।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पुव्वाहीयं नासइ, नवं च छातो अपच्चलो घेत्तुं ।
खमगस्स य पारगए वरिसति असहू व बालाई ॥११७॥
बाले सुत्ते सुई कुडसीसग छत्तए अपच्छिमए ।
णाणट्ठी तवस्सी अणहियासि अह उत्तरविसेसो ॥११८॥

॥पञ्चोसमणा कप्पनिजुत्ति सम्मत्ता ॥९॥

॥९॥ नवममोहनीयाध्ययननिर्युक्तिः॥

नामं ठवणा मोहो दव्वे भावे य होति बोधव्वो ।
ठाणं पुव्वुद्दिट्ठं पगयं पुण भावठाणेणं ॥११९॥

पूर्वाधीतं नश्यति, नवं च बुभुक्षितः अप्रत्यलः ग्रहीतुम् ।
क्षपकस्य च पारणया वर्षति असहाः च बालादिः ॥११७॥
बालः सूत्रं शुचिः कुटशीर्षक छत्रेण अपश्चिमेन ।
ज्ञानार्थी तपस्वी अनध्यासी अथ उत्तरविशेषः ॥११८॥
नामस्थापना मोहो द्रव्ये भावे च भवति बोधव्यः ।
स्थानं पूर्वोद्दिष्टं प्रकृतं पुनः भावस्थानेन ॥११९॥

क्षुधा को सहन न कर सकने वाले का पूर्व में अध्ययन किया हुआ नष्ट हो जाता है, वह नये विषय को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है। तपस्वी व्रत के उपरान्त पारणा करने वाला, बालादि वर्षा होने पर भूख को सहने में असमर्थ हैं।।११७।।

यदि ऊन निर्मित (वस्त्र है तो उससे सिर ढककर भ्रमण करते हैं) नहीं तो केश निर्मित, सूत्र निर्मित, ताडपत्र, बांस की बनी हुई सिरत्राण और अन्ततः छत्र से (सिर ढककर) भ्रमण करते हैं। ज्ञानार्थी, तपस्वी और भूख न सहन करने वाले के लिए प्रधान और विशेष रूप से उत्तरकरण कहा गया है।।११८।।

मोह, नाम, स्थापना, द्रव्य और भावपूर्वक होता है (यह) जानना चाहिए। (इसका) स्थापना या स्थान निक्षेप की दृष्टि से पूर्व में कथन किया गया है। प्रस्तुत (अध्ययन) में पुनः भावस्थान की दृष्टि से (कथन किया जायगा)।।११९।।

दव्वे सच्चित्तादी सयणधणादी दुहा हवइ मोहो ।
ओघेणेगापयडी अणेगपयडी भवे मोहो ॥१२०॥
अट्ठविहंपि य कम्मं भणिअं मोहोत्ति जं समासेणं ।
सो पुव्वगए भणिओ तस्स य एगट्ठिआ इणमो ॥१२१॥
पावे वज्जे वेरे पणगे पंके खुहे असाए य।
संगे सल्ले अरए निरए धुत्ते अ एगट्ठा॥१२२॥
कम्मे य किलेसे य समुदाणे खलु तहा मइल्ले य ।
माइणो अप्पाए अ दुप्पक्खे तह संपराये य ॥१२३॥

द्रव्ये सचित्तादयः सदनधनादयः द्विधा भवति मोहः।
ओघेनैकप्रकृतिः अनेकप्रकृतिश्च भवेत् मोहः ॥१२०॥
अष्टविधमपि च कर्म भणितं मोह इति यत्समासेन ।
स पूर्वगतो भणितः तस्य च एकार्थका एते ॥१२१॥
पापमवद्यं वैरं शैवालं पङ्कः क्षोभः असातञ्च ।
सङ्गः शल्यमरतः निरयः धूर्तश्च एकार्थकाः ॥१२२॥
कर्म च क्लेशश्च समुदानं तथा मलिनता च ।
मायिनः आत्मनश्च दुष्पक्षः तथा संपरायश्च ॥१२३॥

द्रव्य मोह सचित्तादि (धातु, गो, अन्नादि) और (अचित्त) गृह, धनादि दो प्रकार का होता है। भाव मोह (सङ्घात या सामान्य और विभाग से दो प्रकार का होता है) सङ्घात दृष्टि से एक प्रकृति और (विभाग दृष्टि से) अनेक प्रकृति होता है।।१२०।।

जो अष्टविध कर्म है वह संक्षेप में मोह कहा गया है, वह (अष्टविध कर्म प्रवाद) पूर्व में कहा जा चुका है उसके एकार्थक ये हैं।।१२१।।

पाप, अवद्य, वैर, पनक (पङ्क), क्षोभ, असाता (दुःख-पीड़ा), सङ्ग (आसक्ति), शल्य, अरति, निरति और धूर्त एकार्थक हैं। कर्म क्लेश (दुःख या दुःख का कारण-कर्म), समुदान (प्रयोग गृहीत कर्मों को प्रकृति—स्थित्यादि रूप से व्यवस्थित करने वाली क्रिया), दुष्पक्ष (दुष्टपक्ष), सम्पराय (स्थूल कषाय), असूक्त (निन्दित),

असुत्ते दुहाणुबंधं दुम्मोए खलु चिरट्ठितीए य।
घणचिक्कणनिव्वे आमोहे य तहा महामोहे ॥१२४॥
कहिया जिणेहिं लोगो पगासिया भारिया इमे बंधा।
साहुगुरुमित्तबंधवसेट्ठीसेणावइवधेसु य ॥१२५॥
एत्तो गुरुआसायणजिणवयण विलोवणेसु पडिबंधं।
असुहे दुहाण बंधत्ति तेण तो ताइं वज्जेज्जा ॥१२६॥

॥मोहणिज्जस्स निज्जुत्ती समत्ता॥९॥

असुक्तं दुःखानुबन्धः दुर्मोकः खलु चिरस्थितेश्च।
घनचिक्कणनीव्रः आमोहश्च तथा महामोहः ॥१२४॥
कथिताः जिनैः लोके प्रकाशिताः भारिताः इमे बन्धाः।
साधुगुरुमित्रबान्धवश्रेष्ठिसेनापतिवधेषु च ॥१२५॥
एतस्मात् गुर्वाशातनजिनवचनविलोपनेषु प्रतिबन्धः।
अशुभो दुःखानां बध्नाति तेन तु तानि वर्जयेत् ॥१२६॥

दुःखानुबन्ध (दुःख बन्धन या दुःखविपाक), दुर्मोक (दुःख से छुड़ाने योग्य), चिरस्थितिक (दीर्घकालीन स्थिति वाला), घन (सान्द्र) चिक्कण (स्निग्ध, दुःख से छुड़ाने योग्य) नीव्र (पटल प्रान्त), आमोह तथा महामोह— ये कर्म के एकार्थक हैं॥१२२-१२४॥

तीर्थङ्करों द्वारा लोक में प्रकट किया गया कि साधु, गुरु, मित्र, बान्धव, श्रेष्ठी और सेनापति का वध गुरुवध या महावध है॥१२५॥

गुरु की आशातना (अर्थात् अवज्ञा) और जिन वचनों के विलोपन का परित्याग करना चाहिए क्योंकि इनसे अन्तराय होता है और अशुभ (कर्मों) और दुखों का बन्ध होता है॥१२६॥

।।१०।।दशम नवपापनिदानस्थानाध्ययननिर्युक्तिः।।

णामं ठवणा जाई दव्वे भावे य होइ बोधव्वा।
ठाणं पुव्वुद्दिट्ठं पगयं पुण भावट्ठाणेणं॥१२७॥
दव्वं दव्वसभावो भावो अणुभवणओहतो दुविहो।
अणुभवण छव्विहो उहओ उ संसारिओ जीवो॥१२८॥
जाती आजातीया पच्चाजातीय होइ बोधव्वा।
जाती संसारत्था मासो जाती जम्ममन्नयरं॥१२९॥

नाम स्थापना जातिः द्रव्ये भावे च भवति बोधव्यम् ।
स्थानं पूर्वोद्दिष्टं प्रकृतं पुनः भावस्थानेन ॥१२७॥
द्रव्यं द्रव्यस्वभावो भावो अनुभवनओघतो द्विविधः ।
अनुभवनो षड्विधः ओघतस्तु सांसारिको जीवः ॥१२८॥
जातिराजातिश्च प्रत्याजातिः भवति बोधव्या ।
जातिः संसारस्थानां असौ आजातिः जन्मान्तरम् ॥१२९॥

(निक्षेप की दृष्टि से) जाति या उत्पत्ति नाम, स्थापना, द्रव्य और भावपूर्वक होती है (यह) जानना चाहिए। स्थान निक्षेप की दृष्टि से पूर्व में कथन किया गया है। प्रस्तुत (अध्ययन में भाव स्थान की दृष्टि से) जाति का कथन किया जायगा।।१२७।।

द्रव्यदृष्टि से (जाति या उत्पत्ति का अर्थ है उत्पन्न हुए) द्रव्य का स्वभाव, भाव दृष्टि से उत्पत्ति अनुभवन (अर्थात् निदान कृत कर्म फल का भोग) और सामान्य दो प्रकार की होती है। अनुभवन छः प्रकार का होता है और सामान्य उत्पत्ति सांसारिक जीवों की होती है।।१२८।।

जाति अर्थात् उत्पत्ति तीन प्रकार की होती है— जाति, आजाति और प्रत्याजाति। सांसारिकों की नरकादि चार गतियों में उत्पत्ति जाति है, सम्मूर्च्छ, अगर्भ, उपपात आदि अन्य प्रकार से जन्म आजाति है।।१२९।।

जत्तो चुओ भवाओ तत्थे य पुणोवि जह हवति जम्मं।
सा खलु पच्चायायी मणुस्स तेरिच्छए होइ॥१३०॥
कामं असंजयस्सा णत्थि हु मोक्खे धुवमेव आयाई।
केण विसेसेण पुणो पावइ समणो अणायाई॥१३१॥
मूलगुणउत्तरगुणे अप्पडिसेवी इहं अपडिबद्धो।
भत्तोवहिसयणासणविवित्तसेवी सया पयओ॥१३२॥
तीत्थंकरगुरुसाहूसु भत्तिमं हत्थपायसंलीणो।
पंचसमिओ कलहझंझपिसुणओहाणविरओ अ पाएण॥१३३॥

यतश्च्युतो भवात् ततश्च पुनरपि यथा भवति जन्म।
सा खलु प्रत्याजातिः मनुष्यतिरश्चोः भवति॥१३०॥
काममसंयतस्य नास्ति खलु मोक्षः ध्रुवमेव आयाति।
केन विशेषेण पुनः प्राप्नोति श्रमणो अनायातिः॥१३१॥
मूलगुणोत्तरगुणयोरप्रतिसेवी इह अप्रतिबद्धः।
भक्तोपधिशयनासनविविक्तसेवी सदा प्रयततः॥१३२॥
तीर्थङ्करगुरुसाधुषु भक्तिमान् हस्तपादसंल्लीनः।
पञ्चसमितः कलहविवादपिशुनावधानविरतश्च प्रायेण॥१३३॥

जिस भव से च्युत हुआ है उसी भव में जब पुनर्जन्म होता है वह प्रत्याजाति है, यह मनुष्य और तिर्यञ्च की होती है।।१३०।।

विषयाभिलाषी और असंयत को मोक्ष नहीं होता है। इनकी निश्चित रूप से आयाति अर्थात् उत्पत्ति है। पुनः किस विशेषण से श्रमण अनायाति अर्थात् संसार-भ्रमण से मुक्ति पाता है।।१३१।।

जो मूलगुण और उत्तरगुणों को दूषित नहीं करता है, इह लोक अर्थात् संसार में आसक्तिरहित होकर रहता है, जो भक्त-उपधि और शय्यासन में (सदा शुद्धता) और एकान्त का सेवन करता है एवं सदा अप्रमत्त रहता है, वह श्रमण मोक्षपद पाता है।।१३२।।

तीर्थङ्करों, गुरुओं और साधुओं में भक्तियुक्त, हस्त-पाद अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने वाला, पञ्चसमितियों वाला, कलह, झगड़ा लगाना और परनिन्दा के चिन्तन से विरत (श्रमण) प्रायः (सिद्ध होता है)।।१३३।।

पाएण एरिसो सिज्झइति कोइ पुणा आगमेस्साए ।
केण हु दोसेण पुणो पावइ समणो वि आयाई ॥१३४॥
जाणि भणिआणि सुत्ते तहागएसुं तहा निदाणाणि ।
संदाण निदाणं नियपच्चोति य होंति एगट्ठा ॥१३५॥
दव्वप्पओगवीससप्पओगसमूलउत्तरे चेव ।
मूलसरीरसरीरी साती अमणादिओ चेव ॥१३६॥
णिगलादि उत्तरो वीससाउ साई अणादिओ चेव ।
खेत्तम्मि जम्मि खेते काले कालो जहिं जो उ ॥१३७॥

प्रायेण ईदृशः सिध्यति इति कश्चित् पुनरागमिष्यति ।
केन खलु दोषेण पुनः प्राप्नोति श्रमणोऽपि आयातिम् ॥१३४॥
यानि भणितानि सूत्रे तथागतेषु तथा निदानानि ।
संदानं निदानं निजप्रत्यय इति च भवन्ति एकार्थाः ॥१३५॥
द्रव्यप्रयोगविस्रसप्रयोगसमूलउत्तराणि चैव ।
मूलशरीराशरीरी सादिरमनस्कादिश्चैव ॥१३६॥
नूपुरादि उत्तरो विस्रसा तु सादिः अनादिकश्चैव ।
क्षेत्रे यस्मिन् क्षेत्रे काले यस्मिन् कालः यस्तु ॥१३७॥

प्रायः (ऊपर वर्णित) इस प्रकार के साधु सिद्धि पाते हैं कोई पुनः संसार-ग्रहण भी करते हैं। पुनः किस दोष से श्रमण उत्पन्न पाते हैं?॥१३४॥

सूत्र (दशाश्रुतस्कन्ध छेदसूत्र) में तथागतों (तीर्थङ्करों) द्वारा कथित निदान हैं (उनको करने वाला पुनः आता है), सन्दान (अवलम्बन लेने वाला) निदान और आत्म-निश्चय ये एकार्थक हैं॥१३५॥

द्रव्यबन्ध (दो प्रकार का) प्रयोग बन्ध और विस्रसा बन्ध। प्रयोग बन्ध, मूल और उत्तर बन्ध (दो प्रकार)। मूल बन्ध भी दो प्रकार का होता है— सारीरिक और असारीरिक—सादि से अन्य॥१३६॥

णिगल—नूपुर या वेणी आदि उत्तर बन्ध हैं, विस्रसा बन्ध (दो प्रकार का होता है)— सादिक विस्रसाबन्ध और अनादिक विस्रसाबन्ध। क्षेत्र की दृष्टि से बन्ध का अर्थ है जिस क्षेत्र में और काल की दृष्टि से अर्थ है जिस काल में बन्ध हो॥१३७॥

दुविहो अ भावबंधो जीवमजीवे अ होइ बोधव्वो ।
एक्केक्कोवि तिविहो विवागअविवागतदुभयगो ॥१३८॥
भावे कसायबंधो अहिगारो बहुविहेसु अत्थेसु ।
इहलोगपारलोगिय पगयं परलोगिए बन्धे ॥१३९॥
पावइ धुवमायाति निआणदोसेणु उज्जमंतोवि ।
विणिवायंपि य पावइ तम्हा अनियाणता सेआ ॥१४०॥
अपासत्थाए अकुसीलयाए अकसायअप्पमाए य ।
अणिदाणयाइ साहू संसारमहन्नवं तरई ॥१४१॥

।।निज्जुत्ती सम्मत्ता।।

द्विविधश्च भावबन्धो जीवाजीवौ च भवति बोधव्यः ।
एकैकमपि त्रिविधो विपाकाविपाकतदुभयात्मकः ॥१३८॥
भावे कषायबन्धोऽधिकारो बहुविधेषु अर्थेषु ।
इहलोकपारलौकिकं प्रकृतं पारलौकिके बन्धे ॥१३९॥
प्राप्नोति ध्रुवमायातिः निदानदोषेण उद्यमवानपि ।
विनिपातमपि च प्राप्नोति तस्मादनिदानता श्रेयसी ॥१४०॥
अपार्श्वस्थत्वेन अकुशीलत्वेन अकषायप्रमादाच्च ।
अनिदानकादिभिः साधुः संसारमहार्णवं तरति ॥१४१॥

भाव-बन्ध दो प्रकार का होता है— जीव भावबन्ध और अजीव भावबन्ध, यह जानना चाहिए। प्रत्येक तीन-तीन प्रकार का होता है— विपाक से बन्ध, अविपाक से बन्ध और तदुभय अर्थात् विपाकाविपाक से बन्ध।।१३८।।

भाव (निदान) में कषाय बन्ध अधिकार (प्रस्ताव) अनेक विधियों और अर्थों में होता है। यह इहलौकिक और पारलौकिक होता है। प्रस्तुत अध्ययन में पारलौकिक बन्ध का कथन है।।१३९।।

निदान-दोष के कारण (मोक्षमार्ग में) प्रयत्नशील भी श्रमण निश्चित् रूप से उत्पत्ति या जन्म प्राप्त करता है, और अधःपतन या विनाश प्राप्त करता है इस कारण निदान न करना श्रेयस्कर है।।१४०।।

अशिथिलाचारी, शीलवान्, कषायरहित, अप्रमत्त और निदान न करने वाला साधु संसार रूपी महासागर को पार करता है।।१४१।।

।।निर्युक्ति समाप्त।।

गाथानुक्रमणिका

आद्यांश	गाथा सं०
अट्ठविहंपि य कम्मं भणिअं	१२१
अपडि ा म सोहम्मे अभिओगा	१०९
अपासत्थाए अकुसीलयाए	१४१
अप्पिणह तं बइल्लं	९२
अब्भुवगत गतवेरे	१११
अवराहम्मि य पयणुए	१३
अवहंत गोण मरुए चउण्ह	१०३
असमाहि य सबलत्तं	७
असिवाइ कारणेहिं अहवा	६६
असिवे ओमोयरिए राया	७४
असुत्ते दुहाणुबंधं दुम्मोए	१२४
आउ विवागज्झयणाणि	२
आयारम्मि अहीए जं नाओ	२७
आयारे बायाला पडिमा	४६
आषाढपुण्णिमाए	६३
आसायणाओ दुविहा	१५
इय सत्तरी जहण्णा असीति	६८
इरिएसण भासाणं मण वयसा	८७
उच्चार पासवण खेलमत्तए	८४
उड्ढमहे तिरियम्मि य	७६
उणाइरित्त अट्ठ विहरिऊण	५८
उण्णिय वासाकप्पो लाउयपायं	११६
उदय सरिच्छा पक्खेणउवेति	१००
उभओ वि अद्धजोयण	७५

मार्गदर्शक : परमपूज्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ऊणाइरित्त मासा एवं थेराण ६२
एगबइल्ला भंडी पासह ९१
एत्थ तु अणभिग्गहियं ६५
एत्थ तु पणगं पणगं ६७
एत्तो गुरुआसायण १२६
एमेव थंभकेयण १०२
एवं च सुयसमाधिपडिमा ४७
ओदइयाईयाणं भावाणं ५५
कम्मे य किलेसे य समुदाणे १२३
कहिया जिणेहिं लोगो १२५
काईय भूमी संथारए य ७१
काऊण मासकप्पं तत्थेव उवागयाण ५९
काऊण मासकप्पं तत्थेव ठियाण ६९
कामं असंजयस्सा णत्थि १३१
कामं तु निरवसेसं ३८
कामं तु सव्वकालं पंचसु ८८
कामं दुवालसंगं ३६
कारणओ उडुगहिते उज्झिऊण ८३
कालो समयादीओ पगयं ५७
कुप्पवयणं कुधम्मं उवासए ३४
खद्धाऽऽदाणियगेहे पायस ९७
गणसंगहुवग्गहकारओ २८
गंधार गिरी देवय ९५
चंपाकुमारनंदी पंचऽच्छर ९३
छट्ठट्ठमपुव्वेसुं १८
जइ अत्थि पयविहारो ७०
जइ ता गिहिणो वि य ४२
जह गयकुल भूओ ३०
जाइं भणिआइं सुत्ते २३
जाणि भणिआणि सुत्ते तहागएसुं १३५
जाणि भणिआणि सुत्ते ताणि २१

जाती आजातीया १२९
जत्तो चुओ भवाओ १३०
ठवणाए निक्खेवो छक्को ५४
डहरीओ उ इमाओ अज्झयणेसु ५
डहरीओ उ इमाओ निज्जूढाओ ६
णामं ठवणा जाई दव्वे १२७
णिगलादि उत्तरो १३७
णिवचिंत विगाल पडिच्छणा १०५
तह पवयण भत्तिगओ ३१
तत्थहिगारो तु सुहं ४१
तिण्णि दुवे एक्का वा ७७
तित्थंकरगुरुसाहूसुभत्तिमं १३३
तो ते सावग तम्हा ३७
दगघट्ट तित्रि सत्त व ७८
दढसम्मत्तचरित्ते मेधावि ५०
दव्वट्ठवणाऽऽहारे विगई ७९
दव्वतदट्ठो वा ३२
दव्वतदट्ठो वा ३३
दव्वप्पओगवीसस्स १३६
दव्वे चित्तलगोणाइएसु १२
दव्वे भावे य सरीरसंपया २९
दव्वंमि सचित्तादी संजमपडिमा ३९
दव्वे सचित्तादी १२०
दव्वं जेण व दव्वेण ९
दव्वं दव्वसभावो भावो १२८
दव्वं माणुम्माणं १७
दव्वंसरीरभविओ २५
दसआओ विवागदसानामेहिं ४
दसाणं पिंडत्थो ८
दासो दासीवतितो छत्तट्ठिय ९६
दुविहो अ भाव बंधो १३८

मार्गदर्शक : आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

दंसणनाणचरित्तं २२
दंसणवयसामाइय ४३
धुवलोओ उ जिणाणं णिच्चं ८५
न करेइ दुक्खमोक्खं २०
नेच्छइ जलूगवेज्जग १०६
नामं ठवणा दविए १०
नामं ठवणा मोहो दव्वे ११९
नायं गणिअं गुणिअं २६
पच्छित्ते बहुपाणो कालो ११२
पज्जोसमणाए अक्खराइं ५२
पडिमापडिवन्नाणं एगाहं ६१
परिचिअकालामंतणखामण ५१
परिवसणा पज्जुसणा ५३
पसत्थ विगईगहणं ८२
पाएण एरिसो सिज्झइति १३४
पायसहरणं छेत्ता पच्चागय ९८
पावइ धुवमायाति १४०
पावे वज्जे वेरे पणगे १२२
पासत्थि पंडरज्जा परिण्ण १०८
पुव्वाहारोसवण जोग विवड्ढीय ८०
पुव्वाहीयं नासइ ११७
पुरिमचरिमाण कप्पो ११३
बाले सुत्ते सुई कुडसीसग ११८
बाला मंदा किड्डा ३
बाहिं ठित्ततिवसभेहिं ६४
बोहण पडिमा उदयण ९४
भावे कसायबन्धो अहिगारो १३९
भावे उ सम्मदिट्ठी ३५
भासणे संपाइमवहो दुण्णेओ ८९
भिक्खूणं उवहाणे पगयं ४४
भिक्खूणं उवहाणे उवासगाणं ८

मणवयणकायगुत्तो	९०
महुरा मंगू आगम बहुसुय	११०
मिच्छा पडिवत्तीए	११
मूलगुणउत्तरगुणे अप्पडिसेवी	१३२
मोत्तुं पुराण भावियसड्ढे	८६
राया सप्पे कुंथू अगणि	७२
वणिधूयाऽच्चंकारिय	१०४
वाओदएण राई णासइ	९९
बालेराई दाली	१४
वासाखेत्तालंभे अद्धाणा	६०
वासं व न ओरमई	७३
विगतिं विगतीभीओ विगइगयं	८१
वीसंतु णवरिणेम्मं	११
वंदामि भद्दबाहुं पाईणं	१
संजमखेत्तचुयाणं णाणट्ठि	११५
समाहिओवहाणे य	४५
सयगुणसहस्स पागं	१०७
सा दुविहा छबिगुणा	४०
सामित्ते करणम्मि य	५६
साहू तेणे ओग्गह कंतार	१६
सुत्ते जहा निबद्धं वग्घारिय	११४
सेल्लट्ठि थंभ दारुय लया	१०१
सोइंदियमादिआ पदिसंलीणया	४९
सो गुरुमासायंतो	२४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागरजी महा

शब्दानुक्रमणिका

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

अ

अइरेगाइं (अतिरेकानि) अतिशय	११
अइक्कमे (अतिक्रमे) नियम-उल्लङ्घन	१२
अकुसीलयाए (अकुशीलत्वेन) शीलवान	१४१
अच्चंकारिय (अत्यहङ्कारित) अत्यहङ्कारित	१०२,१०४
अज्जयणेसु (अध्ययनेषु) अध्ययनों में	५
अट्ठविहं (अष्टविधं) आठ प्रकार का	१२
अट्ठसुयमग्गओ (अष्टसुतमग्रतः) आठ पुत्रों के पश्चात्	१०४
अणहियासि (अनध्यासिन्) सहन नहीं करने वाला	११४,११८
अणायाई (अनायाति) संसार-भ्रमण से मुक्ति	१३१
अणिट्ठं (अनिष्टं) अनिष्ट	१५
अणिदाणयाइ (अनिदानकादिभिः) निदान न करने से	१४१
अणुग्गहट्ठाए (अनुग्रहार्थाय) कृपा-उपकार के लिए	६
अणुभवण (अनुभवनो) कर्मफल भोग	१२८
अणुयत्तीह (अनुवृत्तिभिः) अनुकूल किया हुआ	१०४
अतियारे (अतिचारे) नियम का आंशिक भङ्ग	१२
अनियाणता (अनिदानता) निदान का अभाव	१४०
अपच्चलो (अप्रत्यलः) असमर्थ, अयोग्य	११७
अपच्छिमए (अपश्चिमेन) अन्तिम द्वारा	११८
अप्पडिक्कम (अप्रतिकर्मन्) संस्कार वर्जित	१०९
अप्पडिबद्धो (अप्रतिबद्ध) आसक्तिरहित	१३२
अपमज्जणे (अप्रमार्जने) बिना प्रमार्जित किये	८९
अपरितंतो (अपरितान्तः) बिना खिन्न हुए	३०
अपासत्थाए (अपार्श्वस्थत्वेन) शिथिलाचार रहित द्वारा	१४१
अपेह (अप्रेक्ष्य) देखे बिना	८९
अप्पडिसेवी (अप्रतिसेविन्) नियम-विरुद्ध आचारण नहीं करने वाला	१३२

अप्पमाए (अप्रमादात्) प्रमादरहित होने से १४१
अप्पिणह (अर्पय) दो ९२
अब्भुवगत (अभ्युपगत) स्वीकार किया हुआ १११
अभिओगा (अभियोगाः) वशीकरण १०७-१०८
अमणादिओ (अमनस्कादिकः) मन-आदि से अन्य १३६-१३७
अवराहम्मि (अपराधे) अपराध में १३
अवलेहणीया (अवलेखनिका) बाँस का छिलका ९३
अवसाणं (अवसानं) नाश, अन्त १०१
अवहंत (अवधत्) वध किया १०३
अविगडितफलं (अविगणित फलं) फल का बिना विचार किये १११
अवेति (अपेति) नष्ट होना १००
असंचइए (असञ्चयिक) सञ्चय न करने योग्य ८०
असठभावो (अशठभावः) सरलतापूर्वक ३१
असहू (असहु) असमर्थ, अशक्त ८५, ११७
असियाए (असिना) दाँती से ९८
अहक्कमं (यथाक्रमं) क्रमानुसार ५
अहिगरणं (अधिकरणं) असंयम, पापकर्म ८७-९०

आ

आइक्खिआव (आख्यायितः) उक्त, उपदिष्ट ४१
आएसट्ठ (आदिष्ट) आदेश होने पर ८४
आगमेस्साए (आगमिष्यति) आयेगा १३४
आजातीया (आजातिः) आगमन, उत्पत्ति १२९
आणं (आनयनं) लाना ९६
आयाई, आयाति, (आजातिः) उत्पत्ति १४०
आयारधरो (आचारधरः) गणि सम्पदा-विशेष २७
आरोवण (आरोपणा) प्ररूपणा ७०
आलोए (आलोचयेत्) आलोचना करनी चाहिए ९०
आसज्ज (आसाद्य) प्राप्त कर ११५
आसायणा (आशातना) अपमान, तिरस्कार ३,६,१८,१९,२२
आसायंतो (आशातयन्) आशातना करते हुए २४

इंगिणि (इङ्गिनी) मरण-विशेष ९३
इंदपयम (इन्द्रपदं) पर्वत ७६
इरिएसणं (ईर्यैषणा) ईर्या और एषणा समिति ८७
इरियचरियासु (ईर्याचर्यासु) ईर्या समिति ८९

उ

उक्करो (उत्करः) समूह १०३
उक्कोसा (उत्कृष्टः) अधिक से अधिक ६८
उच्चार (मलोत्सर्ग) मल-विसर्जन ८४
उज्जमंतो–माणो (उद्यमवान्) प्रयत्न करते हुए १४०
उज्जाणओ (उद्यानात्) उपवन या बागीचा से ७७
उज्झंति (उज्झन्ति) त्याग देते हैं ८३
उज्झिऊण (त्यक्त्वा) परित्याग कर ८३
उडुगहिते (ऋतुगृहीते) ऋतुकाल में ग्रहण किये गये ७८
उडुवासासु (ऋतुवासेषु) ऋतुकाल में ७८
उणाइरित्त (ऊनातिरिक्त) कम या अधिक ५८
उण्णिय (और्णिक) ऊन निर्मित ११६
उत्तरकरणेण (उत्तरकरणेन) हाथ से ढँककर ११५
उदगस्स (उदकस्य) जल की ९९
उद्दिट्ठ (उद्दिष्ट) साधु के निमित्त निर्मित ४२
उवग्गहकारओ (उपग्रहकारको) उपकारक २५,२८
उववाय (उपपात) देव या नारक योनि में जीव की उत्पत्ति ९३
उवहाणे (उपधाने) तपश्चर्या, ४४,४५,४८
उवागयाणं (उपागतानां) प्राप्त ५९
उवासए (उपासको) श्रावक ३४,३५

ऊ

ऊणा (न्यूना) न्यून, हीन ५९, ६१

ए

एगट्ठिया (एकार्थिकाः) समानार्थक १२१
एगबइल्ला (एकबलीवर्दा) एक बैल वाली ९१
एगविहारिस्स (एकलविहारिनः) एकलविहारी के ५९
ओग्गह (अवग्रह) ग्रहण करना १६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

ओदइयाईयाणं (औदयिकादिकानां) औदयिकादि भावों का ५५
ओमोयरिए (अवमौदर्ये) कम आहार ग्रहण करना ७४
ओरमई (उपरमति) रुकना, निवृत्त होना, ७३
ओवरई (उपरतिः) विरामस्थान १०
ओसरणं (अपसरणं) दूर हट जाना ६७
ओहतो (ओघतः) सामान्य रूप से १२८
ओहाण (अवधान) उपयोग १३३

क

कज्जम्मि (कार्ये) कार्य या प्रयोजन ८२
कडग (कटक) पर्वतखण्ड ३०
कत्तिओ (कार्त्तिको) कार्त्तिकमास ६५
कद्दम (कर्दम) कीचड़ १०१
कम्मासपट्ट (कर्पासपटः) श्वेत सूती वस्त्र ५६
कषायबंधो (कषायबन्धः) कषायबन्ध १३७,१३९
काइए (कायिक) शरीरसम्बन्धी ८७
काईयभूमी (कायिकभूमिः) जीवों से युक्त भूमि ६९
कायगुत्तो (कायगुप्तः) कायगुप्ति ९०
कारगमिसिं (कारकमृषिं) कर्त्ता ऋषि १
कारणियं (कारणिकं) प्रयोजन से किया जाना ६७
किमिराग (कृमिराग) किरमिजी रङ्ग १०१
कुंथू (कुन्थु) एक क्षुद्र जन्तु ७२
कुडसीसग (कुण्डशीर्षक) बाँस निर्मित सिरत्राण ११८
कुप्पवयणं (कुप्रवचनं) जिनेतर प्रणीत सिद्धान्त ३४
कुसुंभय (कुसुम्भक) कुसुम का रङ्ग १०१

ख

खंडो (खण्डः) अंश १४
खंता (क्षन्ता) सहन करने वाले ५०
खद्धाऽऽदाणिय (ऋद्धाऽऽदानिक) समृद्ध ९७
खमगस्स (क्षमकस्य) तपस्वी श्रमण ११७
खलहाणे (खलधान्यं) खलिहान ९१
खामण (क्षमण) खमाना ५१

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

खिंसणा (खिंसना) निन्दा ९८
खित्तं (क्षेत्रं) क्षेत्र ९७
खुत्ते (छिद्रः) छिद्र १४
खुतायारो (क्षुद्राचारः) अधमाचार १२
खुहे (क्षोभः) क्षोभ ५४,५६,७५-७८
खेत्तद्धा (क्षेत्रकालौ) क्षेत्र और काल में १०
खेत्तम्मि (क्षेत्रे) क्षेत्र में ६३,१३७
खेलमत्तए (श्लेष्म मात्रक) श्लेष्म के निमित्त ८४

ग

गंतव्वं, गतव्वं (गन्तव्यं) जाना चाहिए ७०,६३
गंधारगिरी (गन्धारगिरिः) पर्वत-विशेष ९५
गईओ (गतीनाम्) गतियों की १०२
गणहर (गणधर) जिनदेव के प्रधान शिष्य ११३
गणि (गणिन्) गण का स्वामी २७
गतवेरे (गतवैरे) वैरभाव त्याग देने पर १११
गयकुलभूओ (गजकुलभूतः) गजवंशोत्पन्न ३०
गरहा (गर्हा) निन्दा ८२
गरहिय (गर्हित) निन्दित ९२
गाहावइ (ग्राह्यते) पकड़वाता है १०६
गाहेत्तु (गृहीत्वा) पकड़कर ६४
गिम्ह (ग्रीष्म) ऋतु-विशेष गरमी का मौसम ३८
गिलाणे (ग्लाने) रुग्ण के ७२
गिहिधम्मं (गृहिधर्मः) गृहस्थधर्म ४१
गुणसमित्रिओ (गुणसमन्वितः) गुणयुक्त २५
गणिअं (गुणितं) मनन किया हुआ २६
गुरुट्ठाणे (गुरुस्थाने) गुरुस्थान पर २१,२३
गुरुमूल (गुरुमूल) गुरु के समीप १०८
गुलिया (गुलिका) गुटिका ९५
गेलण्णे (ग्लानत्वे) रोग होने पर ७४
गोण (गौण) गुण-निष्पन्न ५२

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

घ

घण (घन) प्रगाढ़, सान्द्र १२४
घेत्तुं (गृहीतुं) ग्रहण करने के लिए ११७
घोसणया (घोषणया) घोषणा द्वारा ९१

च

चंदपडिमाओ (चन्द्रप्रतिमाः) तप-विशेष ४६
चउण्ह (चतुष्क) चार १०३
चउत्थम्मि (चतुर्थ्याम्) चतुर्थिका १०८
चउत्थिया (चातुर्थिका) चौथी ४९
चउमासिएण (चातुर्मासिकेन) चातुर्मासिक ७८
चत्तारि (चत्वारि) चार ६२, ६८
चरणेसुं (चरणेषु) चारित्र में २४
चिक्कण (चिक्कण) निबिड, घना १२४
चिक्खल (दे) पङ्क ५९
चित्तल (चित्रल) चितकबरा १२
चिरट्ठितीए (चिरस्थितिके) दीर्घकाल तक रहने वाला १२४
चुओ (च्युत) एक भव से दूसरे भव में अवतीर्ण १३०

छ

छक्कं (षट्क) छः का समूह १५,२८
छत्तए (छत्रेण) छत्र द्वारा ११८
छत्तट्ठिय (छत्रस्थित) राजचिह्न-विशेष पर निर्मित ९६
छद्दिसि (षड्दिक्षु) छः दिशाओं में ७६
छम्मासित्तो (षण्मासिकः) छः मास का १२८
छव्विहो (षड्विधः) छः प्रकार का १२८
छातो (दे) बुभुक्षित ११७
छिण्णमंडबं (छिन्नमण्डप) जिस गाँव या शहर के समीप दूसरा गाँव आदि न हो ९८
छोढुं (सोढुं) सहन करने के लिए १०३

ज

जंघद्धे (जङ्घार्द्धे) जङ्घे की आधी ऊँचाई ७८
जट्ठोग्गहे (ज्येष्ठावग्रह) चार मास तक एक क्षेत्र का उत्तमवास ५३,६९

जलूगवेज्जगा (जलौकसवैद्यक) जुलूकवैद्य ११६
जलूगा (जलौकस) जोंक, जन्तुविशेष १०६
जाई (जातिः) उत्पत्ति १२७, १२९
जोयण (योजन) परिमाण-विशेष, चार-कोश १०
जोहे (योध) अङ्गरचना विशेष १०

झ

झंझ (झंझ) विवाद १३३
झामणजत्ता (दहनं) जलाना ९१

ठ

ठवणा (स्थापना) १०,५३,५५,११३,१२७
-ए (स्थापनया) स्थापना से ५४,६४
ठविज्जए (स्थापयेत्) स्थापित करना चाहिए ५५
ठायव्वं (स्थातव्यं) वास करना चाहिए ११३

ड

डज्झ (दग्ध) जला हुआ ९१
डहीहि (दह) जलाओ ९२

ण

णंदिसरे (नन्दीश्वरे) नन्दीश्वरद्वीप ९३
णउती (नवति) नब्बे ६८
णयणं (नयनं) ले जाना ९४
णवरि (केवलं) केवल ११
णाणट्ठि (ज्ञानार्थिन्) ज्ञानार्थी ११५
णिओतव्वो (नियोक्तव्यः) कार्य में लगाना ११२
णिगल (दे) नूपुर १२७
णितिए (नीत्या) नीति से ११०
णिवचिंत (नृपचिन्त्य) राज्यकार्य १०५
णिसि (निशि) रात १०५

त

तदट्ठो (तदर्थो) उपासक विशेष ३२
तरई (तरति) तैरता है १४१
तायस (तापसः) तपस्वी ९४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुबोधसागर जी म

थ

थंभ (स्तम्भ) स्तम्भ १०१
थेराण (स्थविरानाम्) स्थविरों का ८५

द

दमग (द्रमक) गरीब, रङ्क ९८
दसआओ (दशाः) दशायें २,४
दसमीउ (दशम्याः) दशमीतक ६३
दसह (दसधा) दसबार २
दसुत्तरसयं (दसोत्तरशतं) एक सौ दस ६८
दाली (दे) दाल
दुच्चरियाइं (दुश्चरितानि) कुत्सित आचरण ९०
दुच्चिरिए (दुश्चरिते) कुत्सित आचरण ८७
दुण्णेओ (दुर्ज्ञेयो) कठिनाई से जानने योग्य ८९
दुम्मोए (दुर्मोकः) दुःख से छुड़ाने योग्य १२४
दुवालसङ्गं (द्वादशाङ्गं) बारह अङ्ग-आगम ३६
दोक्खर (दुष्कर) कष्टसाध्य ९५

ध

धम्मं (धर्मं) धर्म २५,४१
धुत्ते (धूर्त) धूर्त १२२

न

नायं (ज्ञातं) विदित २६
नायादीएसुं (ज्ञातादिषु) ज्ञातादि में ५
निआण (निदान) किसी व्रतानुष्ठान की फल-प्राप्ति का सङ्कल्प-विशेष १४०
णिक्कारण (निष्कारण) कारण रहित अहेतुक ६१
णिक्खमणे (निष्क्रमणे) निर्गमन ५७
निज्जूढाओ (निर्यूढाः) उद्धृत, ग्रन्थान्तर से अवतरित ६
निहओ (निर्दय) दयाहीन
नियपच्चअ (नियप्रत्यय) आत्मनिश्चय १३५
णिवकहणा (नृपकथनात्) राजा के आदेश से १०५

प

पंचमिया (पाञ्चमिका) पाँचवीं ४५,४९

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

पंथा (पन्थ) मार्ग, रास्ता ७३
पअत्थ (पदार्थ) पदार्थ १८
पगासिय (प्रकाशितं) प्रकट किया गया १२५
पग्गह (प्रग्रहः) नियन्त्रक स्थान १०
पच्चय (प्रत्यय) निश्चय ८२
पच्चागय (प्रत्यागत) वापस आया हुआ ९८
पच्चाजातीय (प्रत्याजाति) उत्पन्न, जन्म-ग्रहण १२९
पज्जोए (प्रद्योत) उज्जयिनी नगरी का राजा ९०
पडिच्छणा (प्रतीक्षण) प्रतीक्षा १०५
पडिबंध (प्रतिबन्ध) रुकावट १२६
पडियरेण (प्रतिचरेण) परिचर्या ९५
पडिवज्जणा (प्रतिपादना) स्वीकार, कथन १५
पडिवत्तीए (प्रतिपत्या) स्वीकार १९
पडिवन्नाणं (प्रतिपन्नानां) अङ्गीकार करने वाले ६१
पडिसेह (प्रतिषेध) निषेध, निवारण ८६,१०४
पढमसमोसरण (प्रथम समवसरण) वर्षाकाल , नियत वर्षावास क्षेत्र में प्रथम आगमन ५३
पणगं (पञ्चकं) पाँच का समूह ६७, १२२
पदाणं (प्रदान) देना, वितरण १०७
पन्नत्ता (प्रज्ञप्ता) उपदिष्ट, निरूपित ४७
पब्भारा (प्राग्भार) दशा-विशेष पुरुष की सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था ३
पयणुए (प्रतनु) सूक्ष्म, अल्प १३
परिकहिया (परिकथिता) प्ररूपित, आख्यात ११३
परिचिअ (परिचित) ज्ञात, जाना हुआ ५१
परिण्ण (परिज्ञा) जानना १०८
परियायववत्थवणा (पर्यायव्यवस्थापना) प्रव्रज्या की अवधि ५२
परिवसणा (परिवसना) चार मास तक एक स्थान पर रहना ५३
पव्वयराती (पर्वतराजिः) पर्वत की दरार ९९
पवंचा (प्रवञ्चा) मनुष्य की दस दशाओं में सातवीं दशा ३
पहू (प्रभुः) समर्थ २८

पाईणं (प्राचीनं) गोत्र-विशेष १
पाउस (प्रावृष्) वर्षा ५७
पागइया (प्राकटिता) व्यक्त होना ५२
पायप्पडीघाओ (पापप्रतिघातः) पाप का निवारण ८२
पुहुत्तेहिं (पृथक्त्वैः) पृथक्त्व से ५६
पेस (प्रेष्य) भेजने योग्य ४३
पोसह (पोषध, पौषध) आहारादि के त्यागपूर्वक किया जाता व्रत-अनुष्ठान विशेष ४३

ब

बंधव (बान्धव) भ्राता, निकट सम्बन्धी १२५
बंधा (बन्धाः) कर्म-बन्धन १२५
बइल्ल (दे) बैल ९२
बला (बला) मनुष्य की दस दशाओं में से चौथी अवस्था ३
बला (बलात्) जबरदस्ती ८१
बलितो (दे) अनुकूल ११२
बायाला (द्विचत्वारिंशत्) बयालिस (४२) ४६
बाला (बाला) मनुष्य की दस अवस्थाओं में पहली दशा ३
बालाई (बालादि) बालादि ११७
बोडे (दे) भग्न, १४
बोहण (बोधन) बोध, शिक्षा ९४

भ

भंडी (दे) गाड़ी ९१
भत्तिमं (भक्तिमत्) भक्तियुक्त १३३
भेरवाणं (भैरवानां) सिंहादि पशुओं का भय ५०
भाउय (भ्रातृ) भाई, बन्धु ९८
भाणग (भाणक) उद्घोषक ९१
भारियकम्मो (भारितकर्म) बलवान कर्म २१,३०
भासणे (भाषणे) कथन, प्रतिपादन ८९
भीसण (भीषण) भयङ्कर, भयजनक ९४
भायेणमोए (भोजनमोचः) आहार-त्याग ८६

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

म

मंगल्लं (माङ्गल्यं) मङ्गलकारी ११३
मइल्ले (मलिने) मलिन १२३
मग्गसिर (मार्गशिर) मास-विशेष, मार्गशीर्ष (अगहन) मास ६९
महईओ (महत्यः) अत्यन्त बड़ी ५
माइणो (मायिनः) मायावी, मायायुक्त १२३
माणुम्माणं (मानोन्मानं) न्यूनाधिक परिमाण. १७
मासकप्पं (मासकल्पं) एकमास तक रहने का आचार ५९
मिंढ (मेढ्र) मेंढा, मेष १०१
मिग्गसीरे (मार्गशिरे) मार्गशीर्ष ६८
मुम्मुही (मुन्मुखी) मनुष्य की दस दशाओं में नवीं दशा १६
मेइणि (मेदिनी) पृथिवी, धरती ८८
मेधावि (मेधाविन्) बुद्धिमान, प्रज्ञ ५०
मोहुपासको (मोहोपासको) उपासक की एक कोटि ३४

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

र

रयणि (रजनि) रात्रि ८५
राई (राजिः) लकीर १४,९९
रोहेण (रोधेन) नगर आदि का घेरा ५९
लक्खणेहिं (लक्षणैः) लक्षणों से ३,४
लया (लता) वल्ली, वल्लरी १०१
लाउयपायं (अलाबूपात्रं) तुम्बीपात्र ११६

व

वंसी (वंश) बाँस १०१
वग्घारिअ (दे) प्रलम्बित ११४
वच्चए (व्रजेत्) गमन करे, जाये १३
वच्छल (वत्सल) स्नेही, स्नेहयुक्त ३१
वज्जए (वर्जयेत्) त्याग ४३
वणभेसज्जं (व्रणभैषज्यं) घाव की औषधि १०७
वतिक्कम (व्यतिक्रमे) नियम-विरुद्ध आचरण १२
वत्थव्वो (वास्तव्यः) निवासी ९६
वप्पण (वप्राणां) खेतों की १०३

वरग (वरक) सम्बन्ध माँगने वाले १०४
वरिसेण (वर्षेण) वर्ष में १००
वाओदयेण (वातोदकै:) हवा और जल से ९९
वागरणं (व्याकरणं) कथन, प्रतिपादन १०९
वाघाएण (व्याघातेन) बाधक होने से ६०
वायणिसग्गो (वातनिसर्गो) उच्च स्वर करना १०९
वासाकप्पो (वर्षाकल्प:) वर्षावास के योग्य ११६
वासाखेत्ता (वर्षाक्षेत्र) चातुर्मास क्षेत्र ६०
वासाणि (वर्षाणि) वर्ष तक ९२
वासावासं (वर्षावासं) चातुर्मास में एक स्थान में किया जाता निवास ६३
विआणओ (विज्ञायको) ज्ञानी २६
विआल (विकाल) दुर्भिक्ष आदि या सन्ध्या १६
विगइगयं (विकृतिगतं) विकृति को प्राप्त ८१
विगयसभावं (विकृत स्वभाव) विकार स्वभाव वाली ८१
विणिवायं (विनिपातं) अध:पतन या विनाश १४०
विरओ (विरतो) निवृत्त १३३
विवड्ढीय (विवर्द्धिक) बढ़ाने वाला ८०
वीससपयोग (विस्रसप्रयोग) विस्रसाबन्ध और प्रयोगबन्ध १३६
वोसिरणं (व्युत्सर्जन) परित्याग ७९
संगहपरिण्णा (सङ्ग्रह परिज्ञा) प्रतिमा-विशेष २९
संगे (सङ्गे) कर्मबन्ध या आसक्ति १२२
संघयणे (संहनने) संहनन के विषय में ५१
संपराये (सम्पराय) कषाय १२३
संवच्छरिए (सांवत्सरिके) वार्षिक ८७
संविग्ग (संविग्न) संवेगयुक्त, मुक्ति का अभिलाषी ८६
संवेगकरणाणि (संवेगकरणानि) मोक्ष के साधन ४१
संसत्त (संसक्त) जन्तु विशेष युक्त ७१
सक्कतोसरणं (शक्रावसरणं) समवसरण १०९
सज्झाएसणसोही (स्वाध्यायैषण शोधि:) स्वाध्याय और एषणा शुद्ध करने वाली ११६
सबल (शबल) कर्बुर, चितकबरा, दूषित चरित्र १४

सबलत्तं (शबलत्वं) शबलदोष ७
सब्भिंतर (साभ्यन्तर) अभ्यन्तर ४८
सयगुणसहस्स (शतगुणसहस्र) सैकड़ों गुण वाले हजार १०७
सयण (सदन) गृह १२०
सयणी (शायनी, स्वापनी) मनुष्य की दस दशाओं में दसवीं ३
सरीर भविओ (शरीरभविकः) सांसारिक शरीर २५
सल्ले (शल्य) पापानुष्ठान से लगने वाला कर्म १२२
सावण (श्रावण) मास विशेष ६४
साहग (साधक) साधना करने वाला ६०
सिगय (सिकता) बालू, रेत १००
सुट्ठु (सुष्ठु) अच्छा, शोभन, सुन्दर ६६
सुयसमाहिपडिमा (श्रुतसमाधिप्रतिमा) प्रतिमा-विशेष ४७
सेआ (श्रेयसी) श्रेयस्कर १४०
सेलो (शैलः) पर्वतः ९९
सोउं (श्रोतुं) सुनने के लिए १११
सोहम्मे (सौधर्मे) प्रथम देवलोक १०९

ह

हत्थपायं (हस्तपादं) हाथ-पैर १३३
हलिद्दा (हरिद्रा) औषधि-विशेष, हल्दी १०१
हायणि (हायनी) मनुष्य की दस दसाओं में छठवीं अवस्था ३

आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

अनुयोगद्वारसूत्र : सं० मधुकरमुनि, जिनागम ग्रन्थमाला, सं० २८, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९८७।

अर्धमागधी डिक्शनरी : शतावधानी मुनि रतनचन्द्र, अमर पब्लिकेशन्स, वाराणसी, पुनर्मुद्रण १९८८।

अष्टप्राभृत, कुन्दकुन्द : अनु० राजीभाई छगन भाई देसाई, राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला १०, परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, आगास १९६९।

उत्तराध्ययनसूत्र : सं. जे.शार्पेण्टियर, आर्काइव्ज ओरिएण्टल्स, खण्ड १८, उपशाला १९२२।

अंगपण्णत्ति, शुभचन्द्र : हि० अनु० एवं सं० आर्यिका सुपार्श्वमती हीरक जयन्ती प्रकाशन पु० मा० ६५, भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत्परिषद्, १९९०।

कल्चरल स्टडी आन द निशीथचूर्णि : डॉ० मधु सेन, पी०वी० सिरीज २१, पी०वी० रिसर्च इंस्टीच्यूट, वाराणसी १९७५।

द कैनानिकल लिटरेचर आव द जैनाज़ : प्रो० एच० आर० कापडिया, लेखक, सूरत १९४१।

गवर्नमेण्ट कलेक्शन ऑव मैनुस्क्रिप्ट्स, खण्ड १७, भाग-२ : प्रो० एच० आर० कापडिया, भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९३६।

गोम्मटसार (जीवकाण्ड) : नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, सं० डॉ० ए० एन० उपाध्ये एवं पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्र० मा० प्रा० ग्र० १४, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९७८।

छन्दोऽनुशासन, हेमचन्द्र : सं० एच० डी० वेलणकर, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९६१।

छन्दोमञ्जरी, गङ्गादास : व्याख्या० ब्रह्मानन्द त्रिपाठी, चौखम्बा सुरभारती, ग्र०मा० ३६, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी १९७८।

जैन विद्या के विविध आयाम खण्ड - ५ : सम्पा० प्रो०एस०एम० जैन एवं डॉ० अशोक कुमार सिंह, श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन सभा, कलकत्ता हीरक जयन्ती सङ्गोष्ठी ग्रन्थ, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९९४।

जैनागम साहित्य मनन और मीमांसा : आचार्य देवेन्द्र मुनि, तारक गुरु जैन ग्रं०मा० सं० ७१, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७।

जैन भाषा-दर्शन : प्रो० सागरमल जैन, बी०एल०क्रमाङ्क ३, बी०एल० इंस्टीच्यूट ऑव इण्डोलाजी, दिल्ली १९८६।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-२ : सं०क्षु० जिनेन्द्रवर्णी, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्र०मा० ४०, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली तृ०सं० १९९२।

जैन लक्षणावली, भाग-२ : सं० बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, वीरसेवा मन्दिर ग्रन्थमाला सं० १५, वीर सेवा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली १९७३।

जिनरत्नकोश, खण्ड एक : संग्रा० एच०डी० वेलणकर, गवर्नमेण्ट ओरिएण्टल सिरीज भाण्डारकर ओरिएण्टल रिसर्च इंस्टीच्यूट, पूना १९४४।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - १ : पं० बेचरदास दोशी, पार्श्वनाथ विद्यापीठ ग्रन्थमाला सं० ७, वाराणसी द्वि०पुनर्मु० १९८९।

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग - ३ : डॉ० मोहन लाल मेहता, सं० पं० दलसुख मालवणिया एवं डॉ० मेहता, पी०वी० ग्र०मा० ११, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी द्वि०पुनर्मु० १९८९।

जैन आचार, सिद्धान्त और स्वरूप : आचार्य देवेन्द्रमुनि, तारकगुरु जैन ग्रन्थमाला २०५, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९८२।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

द डाक्ट्रिन ऑव द जैनाज़ : डब्ल्यू० शुब्रिंग, अंग्रे० अनु० वुलौंग व्यूर्लन, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली १९६२।

तत्त्वार्थसूत्र, उमास्वाति : विवे० पं० सुखलाल संघवी, पी०वी० ग्र०मा० सं० २२, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी १९८५।

तत्त्वार्थवार्तिक, भट्ट अकलङ्कदेव दो भाग : सं० महेन्द्र कुमार जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्रन्थमाला (संस्कृत ग्रन्थाङ्क २०), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५७।

तत्त्वार्थाधिगमसूत्रटीका, सिद्धसेनगणि, दो भाग : सं० हीरालाल सेठ, डी०एल० जैन पुस्तकोद्धार फण्ड सि०नं० ७६, बम्बई।

तन्दुलवेयालिय पइण्णयं : अनु० डॉ० सुभाष कोठारी, आगम संस्थान, ग्र०मा० ५, आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान, उदयपुर १९९१।

दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि, जिनदासगणि : मणिवियज ग्रन्थमाला, भावनगर १९५४।

द निजुत्तिज आन द सीनियर्स ऑव द श्वेताम्बर सिद्धान्त : डब्ल्यू०बी०बोली, फ्रैंज स्टेनर वर्लाङ्ग, स्टुअर्ट १९९५।

निर्युक्तिसङ्ग्रह : सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला १८९, लाखाबावल १९८९।

निशिथसूत्रम् (भाष्य एवं चूर्णि सहित) : सं० अमरमुनि, ग्र०मा० ६, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह।

पञ्चकल्पसूत्र खण्ड ९ : सं० विजयजिनेन्द्रसूरि, 'आगम सुधा-सिन्धु' हर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला ग्र० ७६, लाखाबावल, (प्र० वर्ष मुद्रित नहीं)।

पइण्णयसुत्ताइं, दो खण्ड : सं० मुनि पुण्य विजय, जैनागम ग्रन्थमाला १७, महावीर जैन विद्यालय बम्बई १९८४।

पाइअ-सद्द-महण्णवो : पं० हरगोविन्ददास टी० सेठ, सं० वा०शं० अग्रवाल, पं० दलसुख भाई मालवणिया, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी सि०न० ७, अहमदाबाद द्वि०सं० १९६३।

पुष्करमुनि अभिनन्दन ग्रन्थ : आचार्य देवेन्द्र मुनि एवं डॉ० एन०डी० बत्रा, राजस्थान केसरी अध्यात्म योगी पुष्कर मुनि अभिनन्दन ग्रन्थ समिति, बम्बई, उदयपुर १९७९।

प्रवचनसारोद्धार नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, दो भाग, : दे०ला० जै०पु० फण्ड, ग्र० ५८, सूरत।

बृहद् हिन्दी कोश : कालिका प्रसाद, ज्ञानमण्डल, वाराणसी पञ्च.सं. १९८४।

मूलाचार, वट्टकेर : भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली द्वि०सं० १९९२।

रयण-सार, कुन्दकुन्द : सं० डॉ० देवेन्द्र कुमार शास्त्री, कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली १९७३।

विशेषावश्यकभाष्य, जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण : दिव्यदर्शन कार्यालय, अहमदाबाद १९६२।

व्यवहारभाष्य : वा०प्र० गणाधिपति तुलसी, सं० आचार्य महाप्रज्ञ, सं० समणी कुसुम प्रज्ञा, जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ १९९६।

शब्दरत्नमहोदधि, भाग २ : सङ्ग्रा० पं० मुक्तिविजय, संशो० गिरिजा प्रसाद दयाराम, विजयनीतिसूरि वाचनालय, अहमदाबाद, १९४१।

सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, स्वोपज्ञ उमास्वाति : हि० अनु० पं० खूबचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, रायचन्द्र जैन शास्त्रामाला, परमश्रुत प्रभावक जैनमण्डल, बम्बई १९३२।

समराइच्चकहा, हरिभद्र, दो भाग : हि०अनु० डॉ० रमेशचन्द्र जैन, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी, जैन ग्र० माला २१, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली १९९३।

मार्गदर्शक :- आचार्य श्री सुविधिसागर जी महाराज

सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद : सं०पं०फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री, ज्ञानपीठ मूर्ति देवी जैन ग्र०मा० (संस्कृ० १३), भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५।

संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : एम० विलियम्स, आक्सफोर्ड १८९९।

संस्कृत-हिन्दी-कोश : वी०एस० आप्टे, नाग प्रकाशक, जवाहर नगर, दिल्ली पाँचवाँ पुनर्मु० सं० १९९५।

हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर : खण्ड दो, कलकत्ता, १९३३।

त्रीणि छेदसूत्राणि : सं० मधुकरमुनि, जिनागम ग्र० मा० ३२, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, १९९२।

शोध-जर्नल व पत्रिकायें :

अमरभारती : मासिक, वीरायतन, राजगिर।

इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टली : सं० एन०एन०ला, रामानन्द विद्याभवन, कालिकाजी, नई दिल्ली पुर्नमुद्रण सं० १९८५।

जर्नल ऑव द ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट : ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट ऑव बड़ौदा, खण्ड २२, जून १९७३।

जिनवाणी : मासिक, सम्यक्ज्ञान प्रचारक मण्डल, जयपुर।

श्रमण : त्रैमासिक, पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।

●